विवेक
ज्योति
सिक
रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (म. प्र.)

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

अक्टूबर-नवम्बर-दिसम्बर

★ १९९४ ★

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

व्यवस्थापक

स्वामी त्यागात्मानन्द

वर्ष ३२

अंक ४

वार्षिक १५/-

एक प्रति ५/-

आजीवन ग्राहकता शुल्क (२५ वर्षों के लिए) २००/-

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम

रायपुर - ४९२ ००१ (म. प्र.)

दूरभाष : २५२६९, २४९५९, २४११९

अनुक्रमणिका

कम्पोजिंग : लेजरपोर्ट कम्प्यूटर्स, शंकरनगर रोड, रायपुर

मुद्रण : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंग नगर, रायपुर

आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष ३२) अक्तूबर-नवम्बर-दिसम्बर (अंक ४

✡ १९९४ ✡

सब कुछ अस्थिर है

आधिव्याधिशतैर्जनस्य विविधैरारोग्यमुनमूल्यते
लक्ष्मीर्यत्र पतन्ति तत्र विवृतद्वारा इव व्यापदः ।
जातं जातमवश्यमाशु विवशं मृत्युः करोत्यात्मसात्
तत्किं तेन निरंकुशेन विधिना यन्निर्मितं सुस्थिरम् ॥

विविध प्रकार के सैकड़ों शारीरिक तथा मानसिक रोग मनुष्य का स्वास्थ्य चौपट कर डालते हैं; जहाँ भी सम्पदा विद्यमान है, आपदाएँ मानो खुला द्वार पाकर वहाँ प्रविष्ट हो जाती हैं; विवश होकर बारम्बार जन्म लेनेवाले मनुष्य को मृत्यु शीघ्र ही निगल जाती है; अतएव निरंकुश विधाता के द्वारा भला ऐसी कौन सी वस्तु निर्मित हुई है, जो चिरस्थायी हो ? (अर्थात इस जगत में कुछ भी स्थिर नहीं है ।)

भर्तृहरिकृत 'वैराग्यशतकम्' - ३३

गीति-वन्दना

(अहीर भैरव - कहरवा)

मैं तो रामकृष्ण गुण गाऊँ।
स्मरण मनन जप आराधन में
प्रतिपल आनन्द पाऊँ ॥ मैं तो.॥

जनम जनम का मैं दुखियारा,
भटक रहा था मारा मारा
कृपा अकारण की अपनाया,
उनको ना बिसराऊँ ॥ मैं तो.॥

पंकिल भव से मुझे निकाला,
और मिटाई चित की ज्वाला।
उनके चरणों में ही रहकर,
जीवन सफल बनाऊँ ॥ मैं तो.॥

ज्यों वे रखते ज्यों ही रहता,
अपने सुख-दुख उनसे कहता।
वे ही मेरे स्वामि- सखा सब,
उनका दास कहाऊँ ॥ मैं तो.॥

प्रभु का नाम परम धन मेरा
टूटा भवबन्धन का घेरा
धन्य और कृतकृत्य हुआ अब
पद बलिहारी जाऊँ ॥ मैं तो.॥

अग्नि-मंत्र

(आलासिंगा पेरुमल को लिखित)

शिकागो,

२८ मई, १८९४

प्रिय आलासिंगा,

मैं तुम्हारे पत्र का जवाब नहीं दे सका; क्योंकि मैं न्यूयार्क से बोस्टन तक विभिन्न स्थानों में लगातार घूम रहा था और मैं नरसिंह के पत्र की प्रतीक्षा भी कर रहा था। मैं नहीं जानता कि मैं भारत कब लौटूंगा। उन्हीं के हाथों में सब कुछ छोड़ देना अच्छा है, मेरे पीछे रहकर जो मुझे चला रहें हैं। मेरे बिना ही कार्य करने का प्रयत्न करो; समझ लो, मैं कभी था ही नहीं। किसी व्यक्ति या किसी वस्तु की अपेक्षा कभी मत करो। जितना कुछ कर सकते हो, करो। किसी के ऊपर अपनी आशा का महल न खड़ा करो। अपने सम्बन्ध में कुछ लिखने के पूर्व मैं तुमसे नरसिंह के विषय में कुछ कहूँगा। उसने सभी को निराश कर दिया है। कुछ दुष्ट चरित्र स्त्री-पुरुषों के साथ उठने-बैठने से अब उसे कोई अपने पास तक नहीं फटकने देता। खैर अधोगति की अन्तिम सीमा तक पहुँचकर उसने मुझको सहायता के लिए लिख भेजा। मैं भी यथाशक्ति उसकी सहायता करूँगा। फिर भी तुम उसके रिश्तेदारों से कहना कि वे उसके देश लौटने के लिये खर्च भेजें। वे 'कुक' कम्पनी के पते पर रुपया भेज सकते हैं व उसे नकद रुपये न देकर भारत के लिए एक टिकट दे देंगे। मेरा ख्याल है कि मार्ग में यात्रा स्थगित कर देने का कहीं कोई प्रयोजन न होने के कारण उसके लिए प्रशान्त महासागर होकर लौटना ही अच्छा होगा। बेचारा बड़ी मुसीबत में पड़ा हुआ है। अवश्य ही मैं इस बात का ख्याल रखूँगा कि वह भूखों न मरे।

फोटोग्राफ के बारे में मुझे यही कहना है कि इस समय मेरे पास एक भी नहीं है – कुछ भेजने के लिए आर्डर दे दूँगा। महाराज खेतड़ी को मैंने कई भेजे थे और उन्होंने उनमें से कुछ छपवाये भी थे। इस बीच तुम उन्हीं में से कुछ तुम्हें भेज देने के लिए लिख सकते हो।

मैंने यहाँ बहुत से व्याख्यान दिये हैं। धर्मपाल ने जो तुमसे कहा था कि मैं इस देश से चाहे जितना रुपया जमा कर सकता हूँ, यह बात ठीक नहीं है। इस वर्ष इस देश में बड़ा ही अकाल पडा हुआ है – ये अपने यहाँ के गरीबों के ही सब अभाव दूर नहीं कर सकते हैं। जो हो, मैं इसलिए तुमको धन्यवाद देता हूँ कि मैं ऐसे समय में भी उनके अपने वक्ताओं की अपेक्षा अधिक सुविधाएँ पा रहा हूँ। परन्तु यहाँ खर्च बहुत होता है। यद्यपि प्रायः सदा ही और सब कहीं श्रेष्ठ और सुन्दरतम गृहों में मेरा सत्कार किया गया है, तो भी रुपया मानो उड़ ही जाता है। मैं कह नहीं सकता कि आगामी गर्मियों में यहाँ से चला जाऊँगा या नहीं शायद नहीं। इस बीच तुम लोग संघबद्ध होने और हमारी योजनाओं को अग्रसर करने का प्रयत्न करो। विश्वास रखो कि तुम सब कुछ कर सकते हो। याद रखो कि प्रभु हमारे साथ हैं और इसलिए ऐ बहादुरो ! आगे बढ़ते रहो।

मेरे अपने देश ने मेरा बहुत आदर किया है। आदर हो या न हो, तुम लोग सो मत जाओ, प्रयत्न में शिथिलता न आने दो। याद रखो कि हमारी योजनाओं का अभी तिल भर भी कार्यरूप में परिणत नहीं हुआ है।

शिक्षित युवकों को प्रभावित करो, उन्हें एकत्रित करो और संघबद्ध करो। बड़े बड़े काम केवल बड़े बड़े स्वार्थत्यागों से ही हो

सकते हैं। स्वार्थपरता की आवश्यकता नहीं, नाम की भी नहीं, यश की भी नहीं – तुम्हारे नहीं, मेरे नहीं, मेरे प्रभु के भी नहीं। काम करो, भावनाओं को, योजनाओं को कार्यान्वित करो, मेरे बालको, मेरे वीरो, सर्वोत्तम, साधुस्वभाव मेरे प्रियजनो, पहिये पर जा लगो, उस पर अपने कन्धे लगा दो। नाम, यश अथवा अन्य तुच्छ विषयों के लिए पीछे मत देखो। स्वार्थ को उखाड फेंको और काम करो। याद रखना – तृणैर्गुणत्वमापन्नैर्बध्यन्ते मत्तदन्तिनः – 'बहुत से तिनकों को एकत्र करने से जो रस्सी बनती है, उससे मतवाला हाथी भी बँध सकता है।' तुम सब पर प्रभु का आशीर्वाद बरसे। उनकी शक्ति तुम सबके भीतर आये। मुझे विश्वास है कि उनकी शक्ति तुममें वर्तमान ही है। वेद कहते हैं, उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधित – 'उठो, जागो, लक्ष्यस्थल पर पहुँच जाने के पहले रुको नहीं।' उठो, उठो, लम्बी रात बीत रही है, सूर्योदय का प्रकाश दिखायी दे रहा है। तरंग ऊँची उठ चुकी है, उस प्रचण्ड जलोच्छ्वास का कोई भी प्रतिरोध न कर सकेगा। यदि मुझे तुम्हारे पत्रों का उत्तर देने में देर हो जाय, तो दुखी या निराश न होना। लिखना आदि सब इस संसार में निरर्थक हैं। उत्साह, मेरे बच्चो, उत्साह; प्रेम ! मेरे बच्चो, प्रेम; विश्वास और श्रद्धा। और, डरो नहीं। भय ही सबसे बड़ा पाप है।

सबको मेरा आशीर्वाद। मद्रास के उन सभी महाशय व्यक्तियों को, जिन्होंने हमारे कार्य में सहायता की थी, कहना कि मैं उन्हें अपनी अनन्त कृतज्ञता और अनन्त प्रेम भेज रहा हूँ। परन्तु उनसे मेरी यही प्रार्थना है कि वे काम में शिथिलता न आने दें। चारों ओर विचारों को फैलाते रहो। घमण्डी न होना। किसी भी हठधर्मिता वाली बात पर बल न दो। किसी का विरुद्धाचरण भी मत करना। हमारा काम केवल यही है कि हम अलग अलग रासायनिक पदार्थों

को एक साथ रख दें। प्रभु ही जानते हैं कि किस तरह और कब वे मिलकर दाने बन जाएँगे। सर्वोपरि, मेरी या अपनी सफलता से फूलकर कुप्पा न हो जाना, अभी हमें बड़े- बड़े काम करने बाकी हैं। भविष्य में आनेवाली सिद्धि की तुलना में यह तुच्छ साफल्य क्या है ? विश्वास रखो, विश्वास रखो – प्रभु की आज्ञा है कि भारत की उन्नति अवश्य ही होगी और साधारण तथा गरीब लोगों को सुखी करना होगा। अपने आपको धन्य मानो कि तुम प्रभु के हाथों में निर्वाचित यंत्र हो। आध्यात्मिकता की बाढ़ आ गयी है। निर्बाध, निःसीम, सर्वग्रासी उस प्लावन को मैं भूपृष्ठ पर आवर्तित होते देख रहा हूँ। तुम सभी आगे बढ़ो, सबकी शुभेच्छाएँ उसकी शक्ति में सम्मिलित हों, सभी हाथ उसके मार्ग की बाधाएँ हटा दें। प्रभु की जय हो।

श्री सुब्रह्मण्य अय्यर, कृष्णस्वामी अय्यर, भट्टाचार्य और अन्य मित्रों को मेरी आन्तरिक प्रेम और श्रद्धा कहना। उनसे कहना कि यद्यपि अवकाश न मिलने से मैं उनको कुछ लिख नहीं सकता, फिर भी मेरा हृदय उनके प्रति बहुत ही आकृष्ट है। मैं उनका ऋण कभी नहीं चुका सकूँगा। प्रभु उन सबको आशीर्वाद करें।

मुझे किसी प्रकार की सहायता की आवश्यकता नहीं है। तुम लोग कुछ धन इकट्ठा कर एक कोष बनाने का प्रयत्न करो। शहर में जहाँ गरीब से गरीब लोग रहते हैं, वहाँ एक मिट्टी का घर और एक हॉल बनाओ। कुछ मैजिक लैन्टर्न, थोड़े से मानचित्र, भूगोलक और रासायनिक पदार्थ इकट्ठा करो। हर शाम को वहाँ गरीबों को – यहाँ तक कि चान्डालों को भी – एकत्र करो। पहले उनको धर्म के उपदेश दो, फिर मैजिक लैन्टर्न और दूसरी वस्तुओं के सहारे ज्योतिष, भूगोल आदि बोलचाल की भाषा में सिखाओ। तेजस्वी युवकों का दल गठन करो और अपनी उत्साहाग्नि उनमें प्रज्वलित

करो। और क्रमशः इसकी परिधि का विस्तार करते करते इस संघ को बढ़ाते रहो। तुम लोगों से जितना हो सके, करो। जब नदी में पानी नहीं रहेगा, तभी पार होंगे, ऐसा सोचकर बैठे मत रहो! समाचार-पत्र और मासिक आदि चलाना निस्संदेह ठीक है, पर अनन्त काल तक चिल्लाने और कलम घिसने की अपेक्षा कण मात्र भी सच्चा काम कहीं बढ़कर है। भट्टाचार्य के घर पर एक सभा बुलाओ और कुछ धन जमाकर ऊपर कही हुई कुछ चीजें खरीदो। एक कुटिया किराये पर लो और काम में लग जाओ! यही मुख्य काम है, पत्रिका आदि गौण हैं। जिस किसी भी तरह हो सके, सर्वसाधारण में अवश्य ही हमें अपना प्रभाव डालना है। कार्य के अल्पारम्भ को देखकर डरो मत; बडी चीजें आगे आयेंगी। साहस रखो। अपने भाइयों का नेता बनने की कोशिश मत करो, बल्कि उनकी सेवा करते रहो। नेता बनने की इस पाशविक प्रवृत्ति ने जीवनरूपी समुद्र में अनेक बड़े बड़े जहाजों को डुबा दिया है। इस विषय में सावधान रहना, अर्थात मृत्यु तक को तुच्छ समझकर निःस्वार्थ हो जाओ और काम करते रहो। मुझे जो कुछ कहना था, सब तुमको लिख नहीं सका। किन्तु मेरे तेजस्वी बालको, प्रभु तुम्हें सब कुछ समझने की शक्ति देंगे। मेरे बच्चो, काम में लग जाओ। प्रभु की जय हो। किडी को मेरा प्रेम कहना। मुझे सेक्रेटरी साहब का पत्र मिल गया है।

सस्नेह,

विवेकानन्द
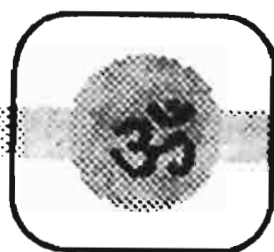
चिन्ता का रोग

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्दजी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विभिन्न विषयों पर विचारोत्तेजक तथा उद्बोधक लेख लिखे थे, जो आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते है तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख 'आकाशवाणी' रायपुर से साभार गृहीत है। - स.)

संसार में ऐसा कौन मनुष्य होगा, जो चिन्ता न करता होगा? चिन्ता तो मनुष्य के स्वभाव में है। कोटिपति से लेकर पथ के भिखारी तक सभी इस चिन्ता ताप से त्रस्त रहते हैं। जब मैं बालक था, तब लगता था कि जो बँगले में रहता है, कार में इधर-उधर आना-जाना करता है, जिसके इशारे पर दर्जनों नौकर नाचते रहते हैं, वह निश्चिन्त और सुखी होता होगा। पर अब जब इस श्रेणी के बहुत से लोगों से परिचित होने का मौका लगता है, तो देखता हूँ कि मेरी पूर्व धारणा गलत थी। ऐसे व्यक्ति भी चिन्ताग्रस्त रहते हैं, बल्कि यदि ऐसा कहें कि गरीब या सामान्य व्यक्ति की तुलना में धनपति अधिक चिन्ताग्रस्त रहते हैं, तो यह अतिशयोक्ति नहीं होगी।

चिन्ता को चिता कहकर पुकारा गया है। चिता की आग के समान यह चिन्ता भी जलाती है। अन्तर इतना है कि चिता की आग बाहर दिखायी देती है और उसे जल डालकर बुझाया जा सकता है, पर चिन्ता की आग दिखती नहीं, वह भीतर ही भीतर सुलगती रहती है और व्यक्ति को सतत जलाती रहती है। वह मन की आग है और इसलिए वह बाहर के जल से शान्त नहीं होती। उसे बुझाने के लिए मन का ही जल चाहिए।

मन के जल का मतलब है मानसिक वृत्ति। चिन्ता यदि एक मानसिक वृत्ति है, तो उसको बुझानेवाला जल भी मानसिक वृत्ति ही

है। हमारा सोचने का गलत तरीका चिन्ता को जन्म देता है और सोचने का सही तरीका उसे बुझानेवाले जल का काम देता है। कुछ लोग छोटी छोटी बात पर चिन्तित हो उठते हैं। बच्चा यदि स्कूल से लौटने में तनिक विलम्ब कर दे, तो माता-पिता चिन्ता से परेशान हो जाते हैं। यदि लड़का बाहर किसी शहर में पढ़ता हो और सात दिन उसकी चिट्ठी नहीं आयी, तो माता-पिता अनमने हो जाते हैं और उनकी यह चिन्ता उनके समस्त व्यवहारों में झलकने लगती है। जब तक परीक्षाफल घोषित नहीं होता है, कई विद्यार्थी ऐसे होते हैं, जो चिन्ता के मारे पेट-भर भोजन भी नहीं कर पाते हैं। यदि लड़का फीस पटाने के लिए रुपया ले जा रहा हो, तो माता-पिता को चिन्ता लगी रहती है कि वह पैसा कहीं गुमा तो नहीं देगा और जब तक लड़का लौट आकर फीस की पावती नहीं दे देता, तब तक वे स्वस्ति की साँस नहीं ले पाते। किसी को यही चिन्ता बनी रहती है कि उसकी चीजें चोरी तो नहीं चली जाएँगी। कोई चिट्ठी पाने की चिन्ता में बार बार घर से बाहर निकलकर डाकिये का रास्ता जोहता रहता है। कॉलेज के दिनों में मेरा एक सहपाठी था, जो मेरे साथ छात्रावास में रहा करता था। उसे चिट्ठी की ऐसी चिन्ता सताती थी कि सुबह से डाकिये के इन्तजार में न तो वह कुछ पढ़ सकता था और न कुछ कर सकता था। चिट्ठी न आने पर उदास हो जाता और बाकी दिन भी वह पढ़ नहीं पाता था।

ये मात्र कुछ उदाहरण हैं। तो, चिन्ता किसी समस्या का हल नहीं करती, अपितु वह एक नयी समस्या पैदा कर देती है। आज असंख्य लोग चिन्ता के कारण सो नहीं पाते। उन्हें नींद की गोली लेनी पड़ती है। तो क्या चिन्ता का निदान नहीं है ? – है, और वह है स्वस्थ चिन्तन का अभ्यास। हमाारा दिल और दिमाग ज़ितना मजबूत होता है, हमें चिन्ता उतना ही कम सताती है। दिल और

दिमाग की मजबूती का मतलब है – विधेयात्मक और रचनात्मक विचार करने की मन में आदत डालना। सोचने का निषेधात्मक तरीका आशंकाओं और कुशंकाओं को जन्म देता है। किसी भी मुद्दे के केवल अन्धकारमय पक्ष को देखना चिन्ता के लिए खाद का काम करता है। जब हम सोचेंगे तो अवश्य ही पक्ष और विपक्ष दोनों पर विचार करेंगे, पर केवल विपक्ष का ही चिन्तन करना चिन्ता को जन्म देता है। मनोवैज्ञानिक की दृष्टि में चिन्ता एक रोग है, जिसकी चिकित्सा की जानी चाहिए। यदि समय पर इलाज न किया गया, तो वह अनिद्रा, तनाव और हताशा को जन्म देती है। इलाज है अपने को स्वस्थ विचारों और विधेयात्मक कार्यों में हरदम लगाये रखना।

चिन्तया नश्यते बुद्धिः चिन्तया नश्यते बलम्।
चिन्तया नश्यते ज्ञानं व्याधिर्भवति चिन्तया॥

– चिन्ता बुद्धि का, बल का तथा ज्ञान का नाश करती है और चिन्ता के कारण बिमारियाँ होती हैं।

चिता चिन्ता समा प्रुक्ता बिन्दुमात्रं विशेषतः।
सजीवं दहते चिन्ता निर्जीवं दहते चिता॥

– चिता और चिन्ता को समान कहा गया है, दोनों में केवल बिन्दु मात्र का ही भेद है। चिता निर्जीव को जलाती है और चिन्ता जीवित ही दहन करती है।

मूर्तिपूजा और ज्ञान

स्वामी अद्‌भुतानन्द से वार्तालाप

(श्रीरामकृष्ण के एक अपढ़ शिष्य स्वामी अद्‌भुतानन्द अनुपम प्रज्ञा के अधिकारी थे। उनका अद्‌भुत ज्ञान देखकर ही स्वामी विवेकानन्द उन्हें 'प्लेटो' कहकर सम्बोधित करते थे। प्रस्तुत है उन्हीं के एक वार्तालाप का अनुवाद, जो स्वामी सिद्धानन्द द्वारा लिपिबद्ध होकर बँगला मासिक उद्‌बोधन के फाल्गुन, १३४० (बंगीय संवत्) अंक में प्रकाशित हुआ था। - स.)

उन अतिसूक्ष्म सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप तथा आनन्दस्वरूप की हम धारणा नहीं कर पाते, इसीलिए स्थूल प्रतिमा का आश्रय लिए बिना भगवत- साक्षात्कार सम्भव नहीं। यदि केवल शास्त्रों को पढ़कर या सुनकर भगवत्तत्व समझना सम्भव होता, तो फिर जगत में धर्म विषयक इतने भिन्न भिन्न मतों का अस्तित्व न होता। यह समझाने की वस्तु नहीं है। जिनके हृदय में श्रद्धा है केवल वे ही भगवत्तत्त्व समझाने में सक्षम हैं। जिनमें श्रद्धा नहीं, विश्वास नहीं, उनका इसमें अधिकार ही नहीं है। जिनमें देवता और गुरु के प्रति श्रद्धा-भक्ति है, उनके समक्ष तत्त्व की बातें कहने पर, वे उसका मर्म समझ सकते है, बाकी लोग नहीं। दर्पण यदि मलिन हो, तो उसमें मुख नहीं देखा जा सकता। जिन लोगों में चित्तशुद्धि होकर श्रद्धा का उदय हुआ है, केवल उन्हीं के समक्ष शास्त्र का यथार्थ तत्त्व प्रकट होता है।

जड़भरत को सच्चा ब्रह्मज्ञान हुआ था, क्योंकि उनका दृढ़ विश्वास था कि 'मैं शुद्ध आत्मा हूँ'। राजा रहूगण ने जब उनके मुख से आत्मज्ञान की बातें सुनकर उनसे पूछा, "आप कौन हैं ?" तो जड़भरत ने कहा, "मैं शुद्ध आत्मा हूँ।" हम लोग ब्रह्मज्ञान ब्रह्मज्ञान करते हैं, केवल मुख से 'नेति' 'नेति' – यह नहीं, यह नहीं – कहना ब्रह्मज्ञान नहीं है। ब्रह्म जीव नहीं है, जगत नहीं है –

इस प्रकार विचार करते करते जब मन उन्हीं में लय होकर समाधि को प्राप्त होता है, तभी ब्रह्मज्ञान होता है।

हम लोग क्या केवल वृक्ष-पत्थरों की पूजा करते हैं ? हम कहते हैं कि वे समस्त पदार्थों में, ब्रह्माण्ड के हर परमाणु में विद्यमान हैं और उन्हीं के प्रति हम प्रणाम करते है। पशु-पक्षी वृक्ष-लता, पत्तियाँ, नद, नदी, पहाड़, पर्वत आदि इस ब्रम्हाण्ड में जो कुछ है, सबको प्रणाम कर पाने का नाम ब्रह्मज्ञान है। वे ही वृक्ष लता, नद, नदी, पहाड़, पर्वत, चन्द्रमा, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र आदि सब हुए हैं। वे स्वयं ही उपास्य हुए है और फिर वे ही उपासक भी हुए हैं।

निराकार अति सूक्ष्म वस्तु है, उच्च अवस्था हुए बिना साधारण लोगों को उसकी धारणा नहीं होती। मिठाई खाने का जो आनन्द है वह निराकार है, परन्तु खोए-चीनी के मिश्रण से बनी साकार मिठाई का सहारा लिए बिना यदि उस आनन्द का अनुभव हो पाता, तो फिर कोई भी मिठाई खाना पसन्द नहीं करता। हम उस असीम, अनन्त, चित्स्वरूप की कैसे धारणा कर सकेंगे ? सत्-चित्-आनन्द का अनुभव करने के लिए हमें ब्रह्माण्ड को पकड़ना ही पड़ेगा। हर लता, हर पत्ती, हर शिरा में वे विद्यमान हैं, यही सीखने के लिए हमें वृक्ष, लता, नदी, पर्वत, अग्नि आदि को प्रणाम करने के अभ्यास की आवश्यकता है।

वृक्ष, लता, पत्र, नदी, पर्वत, चन्द्र, सूर्य आदि सब सुन पाते हैं, जान पाते हैं, क्योंकि वे ही सत्-चित्-आनन्द सबके अधिष्ठातृ देवता के रूप में विराजमान हैं। वे समस्त ब्रम्हाण्ड में व्याप्त हैं, वे समस्त ब्रह्माण्ड को जानते हैं। यदि वे वृक्ष-लता आदि सबमें विद्यमान हों तो वे सर्वदर्शी सब कुछ देख रहे हैं, जान रहे हैं। गीता में भगवान ने स्पष्ट रूप से कहा है, "मैं भूत, भविष्य, वर्तमान –

सब जानता हूँ, परन्तु मुझे कोई भी नहीं जानता।" भगवान को क्या केवल एक मन्दिर के भीतर ही देखोगे ? वे तो हर स्थान पर हैं, कोई भी पदार्थ या स्थान क्या उनसे रहित है ?

सभी पदार्थों में वे ही भगवान विद्यमान हैं। सभी पदार्थों को छोड़ देने पर ब्रह्मज्ञान नहीं होगा। एक व्यक्ति अज्ञानी था, इसलिए उसने बन्दगोभी का एक एक पत्ता छीलते हुए, भीतर कोई भी सार वस्तु न पाकर, आखिरकार सब कुछ फेंक दिया था। यह बात सुनकर उसके मालिक ने कहा, "यह क्या कर रहे हो ? क्या तुम जानते नहीं कि इसके पत्ते पत्ते में गोभी है। यदि सभी पत्तों को फेंक डालोगे तो फिर खाओगे क्या ?" यह कहकर उन्होंने पत्तों की सब्जी बनाकर उसे खिलाते हुए कहा, "जिसे तुमने बेकार समझकर फेंक दिया था, मैं उसी में से मधुर व्यंजन निकाल सका हूँ।" अतएव जो साधक किसी पदार्थ को व्यर्थ कहकर फेंक नहीं देते, वे ही साधना द्वारा तत्त्व की उपलब्धि कर सकेंगे। भगवान का दर्शन करने की जो इन्द्रिय है, उसी ज्ञानचक्षु के खुल जाने पर साधक तत्वदर्शी हो सकते हैं। सब कुछ समयसाध्य है। कली से खिलकर फूल होने में अनेक दिन लगते हैं। जगत में जो कुछ है सब कुछ ब्रह्म है, भगवत्कृपा से जिसके मन में यह पक्की धारणा हो जाती है, उसी को ठीक ठीक ब्रह्मज्ञान होता है। ब्रह्मज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है, बाकी जो कुछ ज्ञान है वह सब विषयगोचर ज्ञान है।

जो मन चारों ओर बिखरा हुआ है, उसी चंचल मन को स्थिर करने के लिए एक सहारा लिए बिना हमारा काम नहीं चल सकता। उन्हीं सत् - चित् - आनन्द - स्वरूप – जिनकी यह प्रतिमा है – जो प्रतिमा हुए हैं, उनकी उपासना हमें करनी ही होगी। एक व्यक्ति की प्रवृत्ति एक ओर होती है, उसे स्वयं की ओर या किसी अन्य तरफ खींचकर नहीं ले जाया जा सकता, इसीलिए विभिन्न प्रकार के

देवी-देवताओं की प्रतिमा हुई है। जिसके जो अभीष्ट देवता हों, जिसका जिस मूर्ति में प्रेम हो, उसे उसी का आधार लेकर ध्यान करना पड़ता है। जिसकी जिस पर प्रीति है, जिसके हृदय का जैसा भाव है, उसके लिए भगवान का वही रूप होता है। भगवान एक से भिन्न दो नहीं हैं, यह सत्य है, तथापि जो जैसा चाहता है , उसके लिए वे वैसे हैं, इसीलिए भिन्न भिन्न देवताओं की कितनी ही मूर्तियाँ हुई हैं।

आकार के बिना साधना करने का कोई उपाय नहीं। लाल रंग सोचना हो तो गुड़हल का फूल, सन्ध्याकालीन मेघ आदि किसी स्थूल वस्तु की कल्पना करनी पड़ती है। जिन्हें साधना करना हो उन्हें प्रतिमा चाहिए। महादेव का रूप ज्ञान का रूप है – उसमें भस्म और चन्दन समतुल्य हैं, पटवस्त्र तथा बाघछाल समान हैं। उसी सूक्ष्म ज्ञान वस्तु को घन करके रूप गढ़ने से महादेव का रूप होता है। उन्हीं ज्ञानमूर्ति महादेव का ध्यान करने से वे प्रसन्न हो जायँ, तो उनका तत्त्व ठीक ठीक समझा जा सकता है।

मनुष्यरूपी गुरु को सामने रखकर यदि उन्हीं (परम) गुरु के रूप-गुण का ध्यान किया जाय, तो फिर गुरु के हृदय का भाव शिष्य के हृदय में संचरित होगा। सर्वदा साधु महापुरुष का चिन्तन करने से चित्त साधु – पवित्र हो जायगा, चोर का चिन्तन करते हो तो क्रमशः चोर हो जाओगे। सर्वदा सत्संग करते करते हृदय सत् भाव में गठित हो जाएगा।

एकलव्य नांमक व्याघ द्रोणाचार्य के पास धनुर्विद्या सीखने जाकर हताश लौट आया और मिट्टी से द्रोणाचार्य की प्रतिमा बनाकर, उसी को सामने रखकर उसने बाण चलाना सीख लिया। यह योगमार्ग है – उसने उन्हीं गुरु की शक्ति से अपने में शक्ति पैदा कर ली। एक कुत्ते के मुख में सात बाण घुसे देखकर अर्जुन विस्मित रह

गए। उन्होंने यह अद्‌भुत घटना द्रोणाचार्य को जा सुनाई और इस पर ढूँढते हुए वे एकलव्य के पास जा पहुँचे। तब एकलव्य ने साक्षात् गुरु द्रोणाचार्य को प्रणाम करके कहा, "आपकी उस प्रतिमा को सामने रखकर अभ्यास करते हुए मैंने यह धनुर्विद्या सीखी है।" अतएव ठीक ठीक प्रतिमा पूजन करके मनुष्य असाध्य वस्तु की साधना कर सकता है।

रावण-वध के लिए भगवान श्री रामचन्द्र के हृदय को शक्तिशाली बनाने के हेतु एक असुरनाशिनी शक्ति की आवश्यकता हुई थी। तब उन्होंने दशभुजा दुर्गा की प्रतिमा का पूजन किया। फिर उस शक्ति से शक्तिमान होकर ही वे रावण का वध कर सके थे।

भगवान अरूप होकर भी, हम लोगों के हृदय के भावों के अनुरूप उनका रूप होता है। सच्चिदानन्द हमारे हृदय में ओतप्रोत हैं, इसीलिए हम किसी एक आनन्दघन विग्रह का ध्यान कर पाते हैं। प्राण मन को एक करके जो भक्त जैसा चाहता है, भगवान उसके समक्ष उसी प्रकार का रूप धारण करके आते हैं। ईश्वर को पाने के लिए यदि किसी प्रकार का शारीरिक परिश्रम करना पड़े, तो फिर ईश्वर जड़ पदार्थ हुए। यदि वे सच्चिदानन्द हों, तो वे मन के समस्त भाव समझते हैं। भगवान को चाहे जो कहकर पुकारोगे, उसी से वे समझ जाएँगे। प्रतिमा के समक्ष भक्ति के साथ रो सकने पर वे हृदय का भाव जान जाते हैं, यहाँ तक कि बातें भी किया करते हैं। वे तो प्रत्यक्ष विद्यमान हैं, प्राणों के रुदन से उन्हें प्रतिमा के बाहर निकाल पाने से ही हो जाता है। हमारे श्रीरामकृष्ण साधन-शक्ति की उपलब्धि कर, दिव्य नेत्रों से प्रतिमा के भीतर भगवान को जाग्रत देखते, कितनी ही बातें करते और कभी कभी प्रतिमा का दर्शन करते करते भगवद्भाव में विभोर हो जाते। जिनकी शक्ति से हमारी हाड़-मांस की हमारी यह चंचल प्रतिमा बातें कर

रही है, उन्हीं भगवान की शक्ति वृक्ष-लता आदि और प्रतिमा में भी विद्यमान है। जो लोग अविश्वासी तथा संशयात्मा हैं , जो बहुत सा पढ़-लिखकर भी अभिमान की ग्रन्थि से पार नहीं जा सके हैं, उनका यह सब उदाहरण देखकर भी मन भ्रमित हो जाता है, सिर चकरा जाता है। उन लोगों ने चिरकाल से मन के रोग पाल रखे हैं। वे संशय के अन्धकार में रहना पसन्द करते हैं, विश्वास के आलोक में आकर प्राणों को शीतल नहीं करना चाहते। इसी कारण संस्कार मानने पड़ते हैं। पूर्व जन्म की सुकृति न रहे तो क्या सहज ही किसी में भगवान के प्रति श्रद्धा-भक्ति व विश्वास आ सकता है ? इन दैवी सम्पदाओं के साथ जन्म लेने पर तुरन्त ही मन का संशय दूर हो जाता है। अर्जुन दैवी सम्पद लेकर आए थे, इसीलिए भगवान श्रीकृष्ण के उपदेश से शीघ्र ही उनका मोह कट गया, आत्मज्ञान पाकर उनकी रक्षा हो गई।

प्रतिमा-पूजा के भीतर प्रेम का परिचय मिलता है। श्री रामचन्द्र का सीता के प्रति बड़ा प्रेम था, उनके प्राण सीता में बसे थे, इसीलिए यज्ञ करते समय उन्होंने सोने की सीता का निर्माण करवाया। उस प्रतिमा को नाना प्रकार के आभूषणों से सजाने के बाद अपने पास सिंहासन पर बिठाकर ही उन्होंने यज्ञ कार्य का सम्पादन किया था। यह बात सीताजी ने सुनी। उन दिनों वे वाल्मीकि मुनि के आश्रम में निवास कर रही थीं। उस समय श्री सीता देवी ने भगवान से प्रार्थना की थी कि जन्म जन्म में उन्हें राम के समान पति मिलें।

साधन-भजन चाहे जितने प्रकार के भी हो, सेवा द्वारा भगवान को प्रसन्न करने का एकमात्र उपाय है प्रतिमा पूजा । भगवान अन्तर्यामी हैं, वे जानते हैं कि भक्त मुझे देख नहीं पाता, इसीलिए वह प्रतिमा का निर्माण कर भक्तिपूर्वक विविध प्रकार के नैवेद्यों के साथ मेरी पूजा किया करता है। जो लोग कहते हैं कि भगवान इससे

सन्तुष्ट नहीं होंगे, उन संशयात्मा व्यक्तियों का भगवान में विश्वास नहीं है। केवल पढ़ने-लिखने से तो संशय दूर नहीं होंगे ! साधुसंग किए बिना शुद्ध ज्ञान कहाँ मिलेगा ? ज्ञानप्राप्ति के लिए व्याकुल होकर भगवान को पुकारने से उनकी कृपा हुई तो ज्ञान का भण्डार खुल जायगा। बालक ध्रुव तथा प्रह्लाद को दिव्यज्ञान कहाँ से मिला था ! वे लोग तो केवल भक्तश्रेष्ठ ही नहीं, ज्ञान के चूड़ामणि भी थे।

जिस प्रकार अनेक चिकित्सक रोगी के रोग का निदान न कर पाने पर, अन्दाज से तीर चलाकर देखते हैं कि सम्भव है लग ही जाय, वैसे ही संसार में बहुत से लोग भवरोग की धारणा नहीं कर पाते। जिस मन को कुछ भी अच्छा नहीं लगता, जो मन भोग्य वस्तुओं को पाने के लिए सर्वदा व्यग्र रहता है, मिल जाने पर वह क्षण भर के लिए किंचित तृप्ति का बोध करता है और न मिलने पर बैचेन हो जाता है – ये ही सब मनोरोग के लक्षण हैं।

देवी-देवता या जिस किसी की भी मनुष्य उपासना किया करता है, उन सबके भीतर वही चैतन्य है – वही आत्मा है, जिसे जान लेने पर मनुष्य के मन का रोग – सारे दुःख दूर हो जाते हैं। आत्मज्ञान की बातें केवल पढ़ने-सुनने से काम न होगा। जिनके हृदय में श्रद्धा है, उन्हें पहले आत्मा के बारे में श्रवण करके, सर्वदा मनन करना होगा, तदुपरान्त उसी चैतन्य के ध्यान में डूब जाना होगा। इसी प्रकार आत्मा की साधना करने पर तभी अपने हृदय में उस चैतन्य का अनुभव कर सकोगे। जो अज्ञानी लोग रोना-गाना किया करते हैं कि उनमें साधना करने की क्षमता नहीं है, वे पत्नी-पुत्र तथा अपने सुख-स्वाच्छन्द के लिए दिन-रात सोचते और प्राणपण से परिश्रम करते रहते हैं। जो लोग परमार्थ का चिन्तन – अपनी आत्मोन्नति का विचार किनारे ठेलकर, चाहे न्याय पथ हो या दूसरों का अनिष्ट करके, केवल विषय-सुख तथा धनप्राप्ति

लिए अपने जीवन का अमूल्य समय बरबाद करते हैं, वे ही लोग आत्मघाती हैं – स्वयं ही अपने शत्रु हैं।

जिन्हें जान लेने पर समस्त अभाव – समस्त हाहाकार चिरकाल के लिए दूर हो जाते हैं, उस ओर जीव का ध्यान नहीं है। अपने को दुर्बल मानकर थोड़े से सुख की आशा में चारों तरफ दौड़धूप करना तो अज्ञानी का काम है। आत्मा को कोई अभाव नहीं, वह ूर्ण है। अज्ञान कभी आत्मा का स्पर्श नहीं कर सकता; क्योंकि वह वैतन्यस्वरूप है, ज्ञानस्वरूप है और सदा आनन्दस्वरूप है। यदि ुम समस्त दुःखों से दूर रहना चाहते हो, तो इसकी पक्की धारणा रने के लिए सर्वदा मनन करते रहो कि तुम जड़ नहीं, चेतन हो; ुम देह नहीं, उन्हीं सच्चिदानन्द-स्वरूप परमात्मा के अंश हो। वे अग्निराशि हैं और जीव स्फुलिंग है, अग्निकण है।

जो आत्मा आकाश से भी सूक्ष्म है, उस वस्तु का ध्यान करने ॊ लिए किसी एक अवलम्बन की आवश्यकता है। अवलम्बन के बेना निराकार का ध्यान करना कठिन है, इसीलिए भगवान श्री ृष्ण ने गीता में कहा है कि जो लोग देहाभिमानी हैं, उनके लिए ागवान के निर्गुण स्वरूप की उपासना, उस अव्यक्त में मन को नेयोजित करना बड़ा कष्टकर है। जब तक देह में 'मैं' का अभिमान , तब तक सत्व, रजस् और तमस् इन गुणों के दायरे में रहना ोगा। इन तीनों गुणों के परे की अवस्था हुए बिना ब्रह्मभाव में स्थिति नहीं होती, उसी परमात्मा में विलीन हो जाना बड़ा कष्टकर ापार है। ज्ञानरूप कठोर तपस्या के द्वारा पवित्र होने पर उस रमात्मा का बोध होता है और तब ब्रह्मभाव की उपलब्धि होती । उन्हें पा लेने पर फिर जन्मग्रहण नहीं करना पड़ता।

जो सूक्ष्म चैतन्य अनन्त ब्रह्माण्ड को व्याप्त किये हुए स्थित हैं, नमें कोई विकार नहीं, सत्त्व-रजस् व तमस् इन तीनों गुणों का

कोई सम्पर्क नहीं, उन निर्विकार चैतन्य का भाव देहाभिमानी जीवों की ध्यान-धारणा के परे है। उन्हीं महाचैतन्य के जिस गुणयुक्त भाव – जिस अवस्था में इन तीनों गुणों की अभिव्यक्ति होने से ब्रह्माण्ड की सृष्टि हुई है – वही उनकी सगुण अवस्था है। वे ही जीव-जगत में परिणत हुए हैं, अतएव सगुण रूप में वे ही जगत के ईश्वर और फिर वे ही महाशक्ति जगदीश्वरी हैं, इसलिए वे – इस विश्वरूपी भगवान – ही जीव के एकमात्र उपास्य हैं, ध्यान-धारणा के विषय हैं। उन्हें पा लेने पर जीव अमृतत्त्व का आस्वादन करेगा, अमर हो जाएगा।
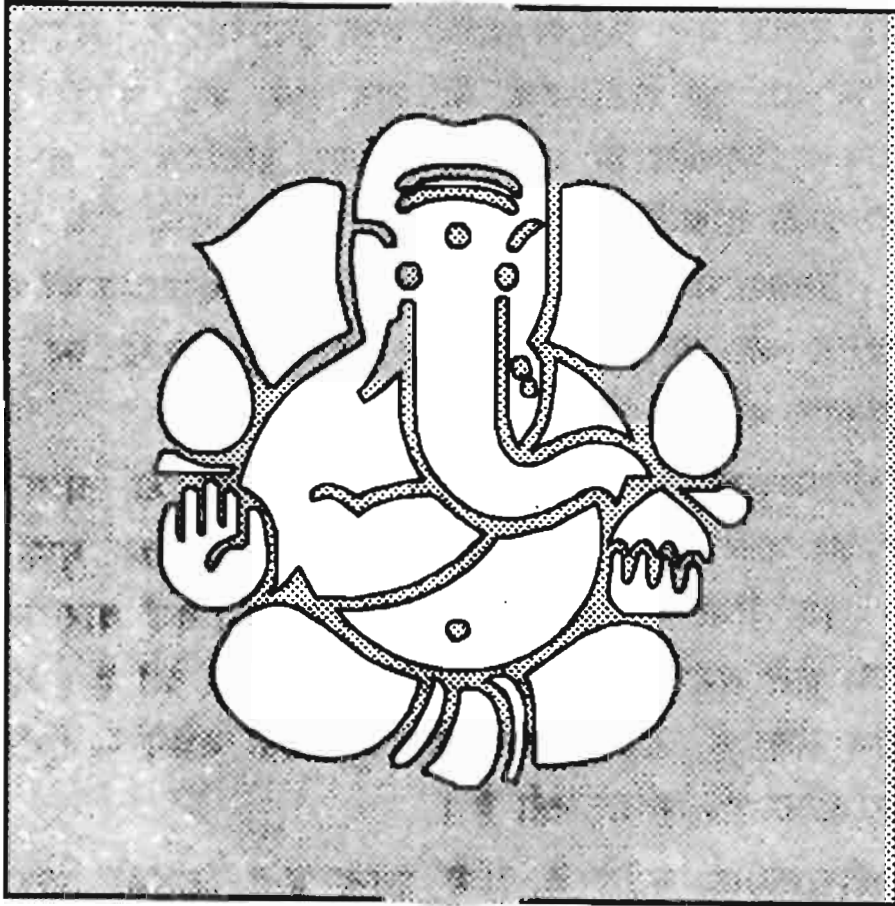
श्रीरामकृष्ण-वचनामृत-प्रसंग

(सैंतालीसवाँ प्रवचन)

स्वामी भूतेशानन्द

(स्वामी भूतेशानन्दजी रामकृष्ण मठ / मिशन बेलुड़ मठ के महाध्यक्ष हैं। उन्होंने पहले बेलुड़ मठ में और तदुपरान्त रामकृष्ण योगोद्यान मठ, काकुड़गाछी, कलकत्ता में 'श्रीरामकृष्ण कथामृत' पर धारावाहिक रूप से चर्चा की थी। उनके इन्हीं बँगला प्रवचनों को संग्रहित कर उद्बोधन कार्यालय, कलकत्ता द्वारा 'श्रीश्रीरामकृष्ण-कथामृत-प्रसंग' के रूप में प्रकाशित किया गया है। इस प्रवचन संग्रह की उपादेयता देखकर हम भी इसे धारावाहिक रूप में प्रकाशित कर रहे हैं। हिन्दी रूपान्तकार हैं श्री राजेन्द्र तिवारी, जो सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविालय, रायपुर में अध्यापक हैं। - स.)

श्रीरामकृष्ण श्यामपुकुर के मकान में हैं। नरेन्द्र, डॉक्टर सरकार, श्याम बसु, गिरीश आदि भक्त उपस्थित हैं। नरेन्द्र मधुर कण्ठ से गा रहे हैं। एक के बाद एक कई भजन सुनकर श्रीरामकृष्ण भावस्थ हो गये। ऐसा प्रायः प्रतिदिन ही होता है। नरेन्द्रनाथ के दक्षिणेश्वर जाते ही श्रीरामकृष्ण उन्हें गाने के लिए कहते। उनका भावभीना मधुर संगीत सुनकर श्रीरामकृष्ण तत्क्षण समाधिमग्न हो जाते। इसीलिए विशेषकर नरेन्द्र का गायन श्रीरामकृष्ण को प्रिय था।

श्रीरामकृष्ण डॉक्टर से कहते हैं, "लज्जा का त्याग करो, ईश्वर का नाम लोगे, उसमें लज्जा क्या है? लज्जा, घृणा और भय – इन तीनों के रहते ईश्वर नहीं मिलते। कई बार भगवान का नाम लेते समय भी लज्जा-संकोच हमें बाधा देते हैं। भगवान का नाम लेता हूँ, यह देखकर लोग मुझे क्या कहेंगे – ऐसी बात मन में आना भी उचित नहीं है।"

श्रीरामकृष्ण कहते हैं, "मैं इतना बड़ा आदमी और 'हरि हरि' कहकर नाचूँगा? इस बात को सुनकर बड़े बड़े लोग मुझे क्या कहेंगे?" इसी लोकलज्जा के भय ने मानो विशिष्ट लोगों को

इस विषय में संकुचित कर रखा है, जो भाव को स्फुरित नहीं होने देता। यद्यपि डॉ. महेन्द्र सरकार बतलाते हैं कि उनमें इस प्रकार की लोकलज्जा नहीं है, श्रीरामकृष्ण कहते हैं, "वह तो तुममें खूब है।"

डॉ. सरकार अपने आपको जितना समझते हैं, उससे कहीं अधिक श्रीरामकृष्ण उन्हें समझते हैं। अन्य किसी व्यक्ति के ऐसा कहने पर डॉक्टर सरकार नाराज होते, किन्तु वे जानते हैं कि श्रीरामकृष्ण सबकी मंगलकामना करते हैं, उनकी बातों में कोई श्लेष नहीं है।

वृत्तिज्ञान और ब्रह्मज्ञान

श्रीरामकृष्ण गहन तत्त्वज्ञान की बात कहते हैं, "देखो, ज्ञान और अज्ञान के पार हो जाओ, तभी उन्हें समझ सकोगे। वे ज्ञान और अज्ञान से परे हैं।... इतने बड़े ज्ञानी वशिष्ठदेव भी पुत्रों के शोक से विह्वल होकर रो रहे थे। श्रीराम ने कहा, 'भाई जिसे ज्ञान है, उसे अज्ञान भी है; जिसे एक वस्तु का ज्ञान है, उसे अनेक वस्तुओं का भी ज्ञान है'।"

इस बात की धारणा करना बड़ा कठिन है। विचार के द्वारा हम तत्त्व की धारणा करने का प्रयास करते हैं, किन्तु यह भूल जाते हैं कि वह धारणा भी तो अज्ञान के ही राज्य में है। शास्त्र में लिखा हुआ है – **अत्र ... वेदा अवेदाः (भवन्ति)** – वेद अवेद हो जाता है, ज्ञान अज्ञान हो जाता है। भगवान के विषय में बुद्धि के द्वारा हम जो धारणा करते हैं वह ब्रह्मज्ञान नहीं है। ब्रह्मज्ञान होने पर समझना होगा कि वह मन की वृत्तियों से पार चला गया है।

भाषा में जिसे ज्ञान कहा जाता है, वह मन की विभिन्न प्रकार की वृत्तियों के एक एक रूप हैं। यथार्थ ब्रह्मज्ञान किसी वृत्ति का ज्ञान नहीं है। मन जब मन नहीं रह जाता, ब्रह्मरूप हो जाता है। तभी उसे ब्रह्मज्ञान होना कहा जाता है। ब्रह्मज्ञान होना माने ब्रह्म

को जानना नहीं है । जो कहता है – मैं जान गया, वह ब्रह्म को नहीं जान सका है । केनोपनिषद का कथन है –

यदि मन्यसे सुवेदेति दभ्रमेवापि
नूनं त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपम् । २/३

यदि ऐसा लगे कि तुम ब्रह्म को अच्छी तरह से जान गये हो, तब तो ब्रह्म के विषय में बहुत ही कम जान सके हो । ऋषि बालक उनके तत्त्व को समझ कर कहते हैं – मैं यह भी नहीं कहता कि मैं ब्रह्म को जानता हूँ और यह भी नहीं कहता कि नहीं जानता । मैं जानता भी हूँ और नहीं भी जानता हूँ । जानता हूँ कहने पर उसे ज्ञान का विषय बनाकर जानता हूँ – ऐसा भी नहीं है । उस तरह से मैं ब्रह्म को नहीं जान सकता । 'मैं जानता हूँ' अर्थात अपने स्वरूप में तन्मय हो जाना – यह हुआ ब्रह्म को जानना । उस स्वरूप की अनुभूति जिन्हें हुई है । वे उसे भाषा के द्वारा व्यक्त नहीं कर सकते । क्योंकि जब तक हम भाषा के राज्य में है, तब तक मन के राज्य की सीमा में हैं । मन के ही राज्य में भी सारी बातें भाषा के द्वारा प्रकट नहीं की जा सकतीं । तो फिर जो तत्त्व मन के राज्य के बाहर है, उसे हम भाषा के माध्यम से भला किस प्रकार व्यक्त कर सकेंगे ? भाषा के द्वारा जो भी अभिव्यक्त होता है, वह पहले विचार के रूप में आता है, उसके बाद हम उसे शब्दों के द्वारा व्यक्त करते हैं । किन्तु ब्रह्म को मन के भी अतीत कहा गया है । क्यों ? **तत्र मनः अमनीभवति** – तब मन मन नहीं रह जाता, ब्रह्मस्वरूप हो जाता है ।

यह बड़ी गम्भीता से अनुभव करने की वस्तु है । शब्द अथवा शास्त्र के द्वारा अथवा विचार के द्वारा उसे नहीं समझा जाता । क्यों ? विचार जिस बुद्धि की सहायता से करते हैं, वह बुद्धि जड़ राज्य का ही एक अंश है । बुद्धि है मन अथवा अन्तःकरण की एक अभिव्यक्ति । वह अन्तःकरण जड़ वस्तु का ही

एक रूप मात्र है, वह जड़ के सिवा और कुछ भी नहीं है। अन्तःकरण चैतन्य की आभा से आलोकित न होने पर उसकी अभिव्यक्ति नहीं होती। यह बात विशेष रूप से चिन्तनीय है; अन्तःकरण, मन, बुद्धि – सभी जड़ हैं। इनके पीछे चैतन्य की ज्योति है इसीलिए ये प्रकाशित हो रहे हैं। जैसे यह घर इत्यादि सब है, किन्तु प्रकाश न रहने पर ये सब अंधकार में डूबे रहते हैं – बिल्कुल आलोकशून्य रहते हैं। ठीक इसी तरह हमारी समस्त मनोवृत्तियाँ ब्रह्म अथवा चैतन्य की प्रभा से आलोकित न हों तो वे भी अप्रकाशित रहती हैं। इसीलिए कहा गया कि वे मन से परे हैं। **यन्मसा न मनुते** – जिनका मन के द्वारा मनन अथवा चिन्तन नहीं किया जा सकता। **येनाहूर्मनोमतम्'** (केन. १/६) – जिनके द्वारा मन ज्ञात होता है। वे मन को प्रकाशित करते हैं, मन उन्हें प्रकाशित नहीं कर सकता। वे नित्यप्रकाश-स्वरूप हैं, उन्हें भला कौन प्रकाशित करेगा ? सूर्य को दीपक के द्वारा प्रकाशित नहीं किया जा सकता। सूर्य की प्रभा में दीपक म्लान हो जाता है। उसी तरह हमारी बुद्धि ब्रह्म को प्रकाशित नहीं कर सकती, बुद्धि स्वयं को भी प्रकाशित नहीं कर सकती। मन के द्वारा ब्रह्म का मनन नहीं किया जा सकता। शास्त्र की यह गहन तात्पर्यपूर्ण उक्ति वेदान्त की मूल बात है।

वेदान्त का कहना है – ब्रह्मवस्तु स्वयं प्रकाश है, कोई ज्ञान, विद्या, भाषा उसे प्रकाशित नहीं कर सकती। इसे समझ लेने पर ब्रह्मज्ञान के सम्बन्ध में हमें यत्किंचित धारणा हो सकती है। क्योंकि, **तस्य भासा सर्वमिदं विभाति** (कठ. २/२/१५) – उसके आलोक से यह सब प्रकाशित है। यह सब अर्थात सम्पूर्ण विश्व-ब्रह्माण्ड, यहाँ तक कि हमारी मन- बुद्धि तक। यही ब्रह्मज्ञान की सार बात है। हम बुद्धि के द्वारा जब ब्रह्म के समबन्ध में विचार करते जाते हैं, तब क्या करते हैं ? ज्ञान-काँटे के द्वारा अज्ञान-काँटे को निकालने का प्रयास करते

हैं। ब्रह्म के विषय में जो अज्ञान है, विचार कर के उसके सम्बन्ध में धारणा करने की चेष्टा करते हैं। यही चेष्टा मानो ज्ञान-काँटे से अज्ञान-काँटे को निकालने की चेष्टा है। काँटा निकल जाने पर ज्ञान-काँटा भी फेंक देना पड़ता है; उसे रखा नहीं जाता। अर्थात मन को शुद्ध करते-करते जब मन या बुद्धि सम्पूर्ण रूप से शुद्ध हो गयी, तब वह बुद्धि इस परिभाषा से बाहर चली गई।

श्रीरामकृष्ण की भाषा में – शुद्ध ज्ञान, शुद्ध बुद्धि, और शुद्ध आत्मा एक ही वस्तु है। बुद्धि के पूर्ण रूप से शुद्ध हो जाने पर क्या रह गया ? – कुछ भी नहीं। तो क्या शून्य हो गया ? नहीं बुद्धि जिनके द्वारा प्रकाशित हो रही थी, वे ही रह गये। वही प्रकाशस्वरूप मात्र रह गया, बुद्धि का लोप हो गया। यही हुआ ज्ञान-काँटे को भी फेंक देना।

श्रवण-मनन-निदिध्यासन

इस बात को हम ठीक से समझ नहीं पाते। जब जागतिक विषय को समझते है, तब सोचते हैं कि मन के द्वारा ही उन्हें जाना जाता है। अब यहाँ शास्त्र कहते हैं कि यह सम्भव नहीं है। मन के द्वारा यह प्रयास चलेगा। **श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासतव्यः (बृह. ४/५/६)** – शास्त्र ने यही निर्देश दिया है; उनका अनुभव प्राप्त करने के लिए हमें श्रवण करना होगा, शास्त्र से, साधु मुख से सुनना होगा। जो उस पथ पर चले हैं, उस वस्तु का अनुभव कर चुके हैं, उनसे सुनना होगा। श्रवण के बाद 'मन्तव्य' – मन ही मन विचार करना होगा, केवल सुनने से नहीं होगा। मन लगाकर सुनने से ही अनेक प्रकार के संशय उठेंगे। उन संशयों को विचार करते हुए दूर करने के लिए जो चिन्तन किया जाता है, उसे 'मनन' कहते हैं। पहले श्रवण चाहिए, अन्यथा मन क्या लेकर विचार करेगा ? विचार न करने पर, केवल सुनने से कुछ काम नहीं बनता। कान में बहुत से शब्दों को भर लिया, बस इतने से

कोई फल नहीं होता। शब्दों के साथ उनका मर्म तो प्रविष्ट नहीं हुआ। अन्तर में प्रवेश कराने के लिए उसे संशय के स्तर के भीतर से ले जाकर प्रवेश कराना होगा। संशय का मार्ग रुद्ध होने पर साधक तत्त्व में नहीं प्रवेश कर सकता। इसलिए मनन नितान्त आवश्यक है।

यह विचार किस प्रकार से होगा, इस सम्बन्ध में शास्त्र का निर्देश है – तत्त्व को जानने के लिए विचार करना होगा। विचार माने पाण्डित्य प्रदर्शन अथवा दूसरे के युक्ति का खण्डन करना नहीं है। यहाँ पर विचार शब्द का अर्थ है 'वाद'। वाद माने तत्त्व के निर्णय या स्थापना के लिए जो विचार है, इसे विशेष रूप से समझना होगा। तत्त्व को अनुभव करने के लिए श्रीरामकृष्ण विचार करने के लिए खूब उत्साहित करते थे।

फिर कभी कभी वे विचार करने से मना भी करते हैं। क्योंकि बुद्धि तत्त्व का निर्णायक न होकर तत्त्व का आच्छादक हो जाती है। यही बुद्धि मनुष्य को तत्त्व तक पहुँचा सकती है, फिर यही बुद्धि उसे तत्त्व से वंचित भी कर सकती है। ऐसी स्थिति में बुद्धि तत्त्व जिज्ञासा के लिए प्रयुक्त न होकर, पाण्डित्य प्रदर्शन के लिए प्रयुक्त होती है। बुद्धि अगर कौशल दिखाने लगे तो वह तत्त्वलाभ में सहायता करना छोड़, उसके विपरीत कार्य कर बैठती है, पथ की बाधा बनकर खड़ी हो जाती है। श्रीरामकृष्ण ने विशेषकर मास्टर महाशय को विचार करने से मना किया था। कहीं वे श्रीरामकृष्ण की बातों पर विचार करते हुए अपने मतानुसार उसकी व्याख्या न कर बैठें – शायद श्रीरामकृष्ण को इस बात की चिन्ता थी। वे मास्टर महाशय के माध्यम से अपने तत्त्व को विशुद्ध, अविकृत रूप में प्रकट करना चाहते हैं।

वैसे अपना उद्देश्य वे स्वयं ही जानते हैं, पर इतना जोर देकर उन्होने अन्य किसी को यह बात कही हो, ऐसा सुनने में

नहीं आता। श्रीरामकृष्ण ने मास्टर महाशय को तीन बार सौगन्ध लेने के लिए कहा था। जो विचार पाण्डित्य के लिए हो, उसकी उन्होंने तीव्र निन्दा की है। एक बार उनके पार्षदों के बीच खूब विचार चल रहा था, उस समय श्रीरामकृष्ण ने अनुभव किया कि ये सब बातें एक-दूसरे की बात काटने के लिए हो रही हैं। इसीलिए तब वे कहते हैं – यह सब अच्छा नहीं लगता।

मन की शुद्धि साधना

उपनिषद में ऋषि ने तत्त्व की व्याख्या की, एक उदाहरण देकर समझाया। शिष्य बोले – फिर से कहिए। उन्होंने एक दूसरा उदाहरण दिया। शिष्य बोले – फिर से कहिए। इस प्रकार कई व्याख्या देने के बाद ऋषि कहते हैं – **वत्स श्रद्धत्स्व** – श्रद्धासम्पन्न होओ। केवल तर्क-विचार के द्वारा इस ज्ञान को नहीं पाया जाता। जहाँ तक हमारे ज्ञान की परिधि है, विचार वहीं तक प्रकट करता है, किन्तु उसके बाहर नहीं जा पाता। उसकी सीमा इस अनुभव के पहले तक ही है। जहाँ पर विचार समाप्त हो जाता है, वहाँ वस्तु का शुद्ध प्रकाश होता है। उसके पहले तक मन के साँचे से होकर, मन के रंग में रँगकर तत्त्व हमारे सामने आता है, किन्तु उसका स्वरूप स्पष्ट प्रकाशित नहीं होता। मन के आवरण से होकर आने के कारण उसका रूप परिवर्तित हो जाता है। इसीलिए शास्त्र कहते हैं – मन को शुद्ध करो।

तो फिर उपाय क्या है ? शास्त्र ने एक बार कहा – **यन्मनसा न मनुते** – फिर कहा – **मनसैवेदमाप्तव्यम्** – ये दो विरोधी बातें हैं। भगवान का मन के द्वारा चिन्तन करते हैं, क्योंकि उनका चिन्तन करने के लिए हमारे पास मन को छोड़कर दूसरा कोई यन्त्र नहीं है। अतः जिस मन की सहायता से हम उन्हें जानने की चेष्टा करते हैं, वह मन जब तक पूरी तरह से शुद्ध और स्वच्छ नहीं हो जाता, तब तक वह आवरणरूप है, प्रकाशरूप नहीं। वह तत्त्व को

उसके स्वरूप में व्यक्त नहीं कर पा रहा है। जैसे काँच के भीतर रखी किसी वस्तु को देखने पर काँच के गुण-दोष से प्रभावित होकर वह वस्तु हमारे सामने व्यक्त होती है। कहीं पर काँच ऐसा है कि छोटी वस्तु को बड़ी और बड़ी वस्तु को छोटी करके दिखाता है, विकृत करके दिखाता है – यह सब काँच के कारण होता है। मन भी मानो इसी तरह एक काँच है। उसके भीतर से हम वस्तु को देखते हैं। अतः मन का विकार वस्तु को विकृत करके हमारे सामने उपस्थित करता है। इसीलिये शास्त्र कहते हैं – मन के द्वारा उनका स्वरूप व्यक्त नहीं किया जा सकता।

किन्तु मन को छोड़कर हमारे पास और क्या है, जिसके सहारे हम अग्रसर हो सकते हैं ? कुछ भी नहीं। इसलिए शास्त्र कहते हैं, मन के द्वारा ही वस्तु को प्राप्त करना होगा। वह किस तरह सम्भव होगा ? शास्त्र कहते हैं – मन को शुद्ध-स्वच्छ-पवित्र करो। मन को इस तरह घिसते-माँजते, शोधन करते करते क्रमशः मन की ऐसी अवस्था हो जायेगी कि तब वह तत्त्व को विकृत नहीं कर सकेगा। श्रीरामकृष्ण कहते हैं – उपासक और उपास्य के बीच व्यवधान कैसा है जानते हो ? मानो एक बहुत ही पतले काँच का व्यवधान है, लगता है अभी छू लूँगा।

भाषा बहुत ही सुन्दर है, किन्तु इसे थोड़ी गम्भीरता के साथ समझना होगा। काँच बिल्कुल स्वच्छ है, फिर भी वह एक व्यवधान है। उसके भीतर से वस्तु को देखते हैं, पर व्यक्त नहीं कर सकते, स्पर्श नहीं कर सकते। अर्थात प्रत्यक्ष रूप से उपलब्धि नहीं कर सकते। मनरूपी यन्त्र की सहायता से वह करते हैं, अतः यन्त्र के दोष से ही वह वस्तु दूषित हो रहा है।

अतएव, इस मन को शुद्ध करके ऐसी अवस्था में ले जाना होगा, जहाँ मन मन न रह जाय। मन के भीतर जब वही

परमतत्व – जो प्रकाशस्वरूप है – केवल वही रह जाता है, तब मन अमन हो जाता है। वे स्वयंप्रकाश हैं। मन उन्हें प्रकाशित नहीं कर सकता, केवल ढँके रहता है। मन शुद्ध होने पर वही आवरण चला जाता है। तब केवल वे ही रह जाते हैं।

इसलिए शास्त्र कहते हैं कि मन की सहायता से मन को शुद्ध करके उनको जानना चाहिए। मन जब तक यन्त्र के रूप में व्यवहृत हो रहा है, तब तक वे इस यन्त्र की आड़ में है। मन का अतिक्रमण करने की सामर्थ्य हममें नहीं है। प्रखर बुद्धि, पाण्डित्य आदि सब इसी घेरे के भीतर हैं। मन को शुद्ध करना माने बुद्धि को प्रखर करना नहीं, अपितु उसकी अपवित्रता को दूर करना है। शुद्ध-पवित्र होने पर वह ब्रह्मरूप हो जायगा-यही है ब्रह्मज्ञान। अतः मनबुद्धि रूपी ज्ञान का काँटा जब तक हटा नहीं दिया जाता, तब तक वस्तु का निर्णय नहीं होता, तत्व-साक्षात्कार नहीं होता। इसका विचार करना होगा। (क्रमशः)
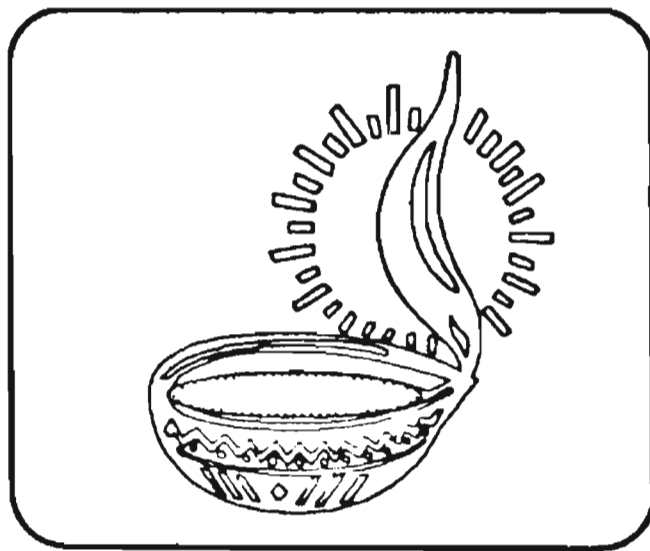
मानस-रोग (२१/२)

पण्डित रामकिंकर उपाध्याय

(हमारे आश्रम द्वारा आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती-समारोह के अवसरों पर पण्डितजी ने 'रामचरितमानस' के अन्तर्गत 'मानस रोग' प्रकरण पर कुल मिलाकर ४६ प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत अनुलेखन उनके बीसवें प्रवचन का उत्तरार्ध है। टेपबद्ध प्रवचनों के अनुलेखन का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं। - सं.)

सती और नारद के हृदय में संशय यह बताने के लिए हुआ कि यदि कोई एक महान गुरु, एक महान वैद्य या डॉक्टर को पा ले, तो मात्र इतने से ही रोगी स्वस्थ हो जायगा – यह मानना ठीक नहीं है। उसके साथ कुछ बातें जीवन में जुड़ी हुई हैं, जो जीवन में ठीक ठीक आनी चाहिए, तब कहीं जाकर रोग दूर होता है, स्वस्थता आती है। पहली बात तो यह कि रोगी अपने रोग का अनुभव कर रहा है या नहीं ? अगर रोगी अपने को रोगी अनुभव करता है, तो वह वैद्य के पास जाएगा। वैद्य जो औषधि और पथ्य बताएँगे, उनका वह सेवन करेगा। अनुकूल आचरण करेगा। तब जाकर स्वस्थ होगा। पर रोगी अपने को रोगी न माने, स्वस्थ माने तब ? सती और रावण के जीवन की यही समस्या है। और इसीलिए उनका रोग असाध्य भी है। सती की समस्या यह है कि उन्हें अपनी बुद्धिमता पर बड़ा अभिमान है। वे दक्ष की पुत्री है। दक्ष माने चतुर। चतुर की पुत्री होने के नाते उन्हें अपनी चतुराई का इतना अंहकार है कि भगवान शिव की बात भी उन्हें सही नहीं लगती। मानो वे अपने पति की बात को मानना तो चाहती हैं, पर उनकी बुद्धि उन्हें मानने की अनुमति नहीं देती। बड़ी विडम्बना है, इतने बड़ी वैद्य की पत्नी ऐसे असाध्य रोग से ग्रस्त हो गई। तब भगवान शंकर को स्वीकार करना पड़ा कि केवल वैद्य ही सब कुछ नहीं होता, रोगी की भी कुछ विशेषताएँ होती हैं। क्या डॉक्टर या वैद्य के घर में कोई

बीमार नहीं पड़ता ? यह तो संसार में दिखाई देता है। बड़े बड़े महात्माओं के सभी शिष्य क्या स्वस्थ हो जाते हैं ? सभी स्वस्थ नहीं हो पाते। कभी कभी तो लोग आश्चर्य करते हैं कि इतने बड़े महात्मा के पास रहकर भी कोई परिवर्तन नहीं हुआ। और कभी कभी तो दूसरों की कौन कहे, स्वयं वैद्य ही बीमार हो जाते हैं। लोग बड़े आश्चर्य से पूछते हैं – अरे आप बीमार पड़ गये ? अरे भाई, बीमारी तो ऐसी वस्तु है कि चाहे वैद्य हो या कोई भी हो, जो कुपथ्य करेगा, वह बीमार पड़ेगा। जब व्यक्ति को अपनी बुद्धिमत्ता पर अभिमान हो जाता है, तब वह कुपथ्य कर बैठता है। यह समस्या दोनों की है, सती की और रावण की भी। सती को दक्षपुत्री होने के कारण अपनी बुद्धिमत्ता पर बड़ा अंहकार है। उन्होंने अपनी भूल स्वीकार नहीं की। भगवान की परीक्षा लेने चल पड़ी। तब भगवान शंकर ने क्या किया ? वे वृक्ष की छाया में बैठ गये और सोचने लगे। शब्द कितना सुन्दर आया शंकरजी के मन में –

इहाँ संभु अस मन अनुमाना।
दच्छसुता कहुँ नहिं कल्याना॥ १/५२/५

– विवाह तो मुझसे हुआ, पर हैं अभी भी दक्ष की ही बेटी। रामायण में यह बात बड़े मनोवैज्ञानिक ढंग से लिखी गई है। बड़ी लम्बी चिकित्सा करनी पड़ी सती के रोग को दूर करने के लिए। भगवान शंकर जैसे महानतम वैद्य भी असमर्थ हो गये। कह दिया –

मोरेहु कहें न संसय जाहीं।
बिधि बिपरीत भलाई नाहीं॥ १/५२/६

सती दोनों का तिरस्कार करती चली गईं, वैद्य का भी और औषधि का भी। शंकरजी सतगुरु हैं, वैद्य हैं और रामकथा औषधि है – 'भव भेषज रघुनाथ जस'। सतीजी अगस्त्य के

आश्रम में गईं तो रामकथा का तिरस्कार किया । इसका तात्पर्य यह है कि उन्होंने दवा स्वीकार नहीं की और शंकरजी क़ी बात नहीं मानी । इसका अर्थ है – वैद्य का तिरस्कार किया । इस तरह के रोगी जिसे वैद्य और दवा दोनों पर विश्वास न हो, तो उस रोगी का क्या होगा, आप कल्पना कर सकते हैं । सती को अपने रोग निवारण के लिए बड़ी लम्बी प्रक्रिया से गुजरना पड़ा और अन्त में अपने सती शरीर को छोड़ना भी पड़ा ।

दोष भी दो तरह के होते हैं – एक बाह्य और एक आन्तरिक । जैसे पीतल के बर्तन में खटाई लग जाय तो उसमें दोष आ जाता है । लेकिन एक दोष और होता है, जो बाहर नहीं भीतर ही होता है, बर्तन में ही होला है । उसे धातुगत दोष कहते हैं । इसका तात्पर्य यह है कि पीतल के लोटे को आप कितना भी माँजिए, इससे बाहरी दोष तो दूर हो जाता है, पर उसका धातुगत दोष पीतल होने का दोष कभी दूर नहीं होता । अन्त में यह जो सतीजी का शरीरत्याग है, इसका अभिप्राय क्या है ? शंकरजी समझ गये कि सती के और दोषों को मिटाना सम्भव है, पर दक्षपुत्री के रूप में उनका जो मूल संस्कार है, उसे मिटाना सम्भव नहीं है । उन्हें तो धातु ही बदलनी पड़ेगी, तब जाकर इनका रोग दूर होगा । मानस-रोगों के सन्दर्भ में भी यही सत्य है । कुछ मानन-विकार तो बहिरंग होते हैं और कुछ अन्तःकरण के – धातुगत । उन धातुगत दोषों को दूर करने की प्रक्रिया बड़ी लम्बी होती है । सती को अन्त में दक्ष के यज्ञ में अपने शरीर का त्याग करना पड़ा । वे जब पुनः नया शरीर धारणकर रामकथा का आस्वादन करती हैं, तब उनके अन्तर्मन के दोषों का निवारण होता है । इस प्रकिया का बड़ा सुन्दर वर्णन सती और पार्वती के प्रसंग में किया गया है ।

इसी प्रकार रावण अपने को बड़ा बुद्धिमान समझता है। उसके मन में यह प्रश्न आया कि राम कहीं सचमुच ईश्वर तो नहीं है?

खर दूषन मोहि सम बलंवता।
तिन्हहि को मारइ बिनु भगवंता। ३/२३/२

तब उसे लगता है कि क्या भगवान ने अवतार ले लिया है? जब उसके मन में यह प्रश्न आया, तो बड़ा सरल उपाय था इसके समाधान का। वह अपने गुरु शंकरजी के पास चला जाता और अपने सन्देह को उनके सामने रख देता। शंकरजी बता देते और समाधान हो जाता। पर रावण की समस्या क्या है? वह अपने को भगवान शंकर से भी अधिक बुद्धिमान मानता है। उसका अपना गणित है – उनको मैंने गुरु बना लिया इसका अर्थ थोड़े ही हुआ कि वे मुझसे अधिक बुद्धिमान हैं। उनके तो पाँच ही सिर हैं और मेरे दस। मेरे पास उनसे दुगुनी बुद्धि है। मुझे उनके पास जाने की क्या आवश्यकता है? मैं जितना समझता हूँ, उतना वे क्या समझेंगे और मुझे क्या समझाएँगे। मुझसे अधिक बुद्धिमान कोई है ही नहीं – यही रावण की समस्या है।

आगे चलकर भगवान शंकर रावण के पास हनुमानजी के रूप में गए। शिष्य नहीं आया, तो गुरु स्वयं गए। शिष्य कैसा भी हो, करुणानिधान गुरु उसके हित के लिए अपनी प्रभुता त्याग कर, वानर शरीर धारणकर स्वयं पहुँच गए। भगवान श्रीराम का भी वही उद्देश्य था। वे भी युद्ध को टालना चाहते थे। चाहते थे कि रावण स्वस्थ हो जाय। रुके हुए थे। बन्दरों में से किसी को भी लंका नहीं भेजा। वे सोच रहे थे कि दवा से ही अगर बिमारी ठीक हो जाय तो आगे नहीं बढ़ना पड़ेगा। चिकित्सा भी दो प्रकार की होती है। अगर दवा से बिमारी ठीक नहीं हुई, तो शल्यचिकित्सा करनी पड़ती है। इसलिए वे हनुमानजी को भेजकर

पहले दवावाली चिकित्सा कराना चाहते हैं। दवा से अगर रावण और लंका स्वस्थ हो जायँ, तो अच्छा है। वे कहते हैं – हनुमान तुम वैद्य बनकर जाओ, रावण स्वस्थ हो जाय, राज्य करे, प्रजा का पालन करे, सेवा करे, इससे बढ़कर अधिक प्रसन्नता मुझे और क्या होगी ?

गोस्वामीजी बड़ी साहित्यिक भाषा में लिखते हैं कि हनुमानजी ने रावण का रोग पकड़ लिया और कहा कि तुम इस वस्तु को छोड़ दो –

मोहमूल बहु सूल प्रद त्यागहु तम अभिमान।
भजहु राम रघुनायक कृपा सिंधु भगवान॥ ५/२३

– रावण तुम्हारी सबसे बड़ी समस्या है मोह। तुम मोहग्रस्त हो। सत्य को जानकर भी तुम अपने जीवन में उसे अस्वीकार करने के अभ्यस्त हो गये हो। यही तुम्हारे अन्तःकरण का मोह है। इस मोह का परिणाम यह हुआ है कि तुम्हारे अन्तःकरण में घोर अभिमान हो गया है। इसलिए इसे दूर करने के लिए अब मैं तुम्हें दवा दे रहा हूँ – 'भजहु राम रघुनायक कृपा सिंधु भगवान' – भगवान की भक्ति करो।

सदगुर बैद बचन बिस्वासा।
संजम यह न बिषय कै आसा॥
रघुपति भगति सजीवन मूरी।
अनूपान श्रद्धा मति पूरी॥ ७/१२२/६-७

– भगवान की भक्ति ही संजीवनी औषधि है। लेकिन यहाँ वैद्य और रोगी की क्या स्थिति है ? हनुमानजी ने बड़ा विचित्र व्यंग्य किया। यह समझने योग्य है। रावण हँस रहा है। हनुमानजी बँधे हुए हैं और रावण सिंहासन पर तनकर बैठा हुआ है। रावण ने कहा – मैंने यह तो सुना था कि गुरु शिष्य के बन्धन को खोलकर उसे मुक्त कर देता है। शिष्य बन्धन में होता है और

गुरु मुक्त होते हैं और वे शिष्य को भी मुक्ति प्रदान करते हैं। पर इस बन्दर को तो देखो, खुद तो बँधा हुआ है और अपने को गुरु समझ रहा है। अपने को तो छुड़ा नहीं पाया और मुझे छुड़ाने आया है। देखो भला कैसी बात है ? हनुमानजी बँधे हुए हैं, पर उस बन्धन में भी कैसी अद्‌भुत सत्य की ओर संकेत करते हैं। बड़ा महत्वपूर्ण सूत्र है। हनुमानजी बँधे हुए हैं और रावण मुक्त है। संकेत क्या है ? जैसे कोई व्यक्ति कारागार में हो तो उसे देखकर लोग कहते हैं कि वह बन्दी है। लेकिन जो घरों में रहते हैं, उन्हें देखकर यह नहीं लगता कि वह बन्दी है। अब अगर कोई गहाराई से देखे, तो पता चलेगा कि वास्तविक कैदी तो वे हैं, जो बंदी के रूप में नहीं दिखाई देते। क्यों ? क्योंकि जो लोग जेल में है उनका तो एक निश्चित समय है कि इतने समय के बाद वे जेल से मुक्त हो जाएँगे, लेकिन इस घर के जेल में जो लोग बँधे हुए हैं, इससे वे कब मुक्त होंगे, इसका तो कोई निश्चित समय नहीं है। यह तो बड़ी विडम्बना है। कैसा विरोधाभास है ? हनुमानजी यही तो बताना चाहते थे कि रावण जो मुक्त प्रतीत हो रहा है, वह वास्तव में कितना बँधा हुआ है और जिसने लोक कल्याण हेतु स्वेच्छा से बन्धन स्वीकार किया है, वह तो नित्यमुक्त है चाहे तो क्षण भर में सारे बन्धन उतार कर फेंक सकता है। मेघनाद ने जब बाण चलाया, तब हनुमानजी ने उससे यही कहा – मैं चाहूँ तो न बँधू, ब्रह्मास्त्र का भी मुझ पर कोई प्रभाव नहीं होगा; लेकिन ब्रह्मास्त्र की जो महिमा है, उसे मैं स्वेच्छा से स्वीकार करता हूँ। ब्रह्म कि मर्यादा बनी रहे इसलिए मैं बन्धन स्वीकार करता हूँ और इस बन्धन को स्वीकार करने के पीछे तो हनुमानजी का एक बड़ा दूरगामी उद्देश्य था। हनुमानजी ने जब रावण की वाटिका के फल खाए, तब वे खुले हुए थे पर जब रावण की सभा में गये, तो बँधकर गये। क्यों ? हनुमानजी

के सामने एक समस्या आ गई थी । त्रिजटा ने श्री सीताजी और समस्त राक्षसियों से कहा कि मैंने एक स्वप्न देखा कि एक बन्दर आया है, वह लंका को जलाएगा – **सपने बानर लंका जारी** । अब हनुमानजी बड़े सोच में पड़ गये कि भगवान ने तो मुझे लंका जलाने का आदेश दिया नहीं है और त्रिजटा लंका जलाने की बात कह रही है । अब किसकी बात मानें, भगवान की या सन्त की ? दोनों बड़े महत्व के हैं । तब उन्होंने यही निर्णय लिया कि अब तक मैंने वही किया जिसका मुझे प्रत्यक्ष आदेश मिला था, इसलिए अब तक मैं खुला था । अब आगे का कार्य तो, जो परोक्ष आदेश से होने वाला है, वहाँ तो करानेवाला ही जाने इसलिए बँध कर ही चलूँ, करानेवाला जो करा ले । हनुमानजी के चरित्र में एक बड़ी विचित्र बात है । उनके चरित्र में पग पग पर विचार है । गोस्वामीजी आदि से अन्त तक यही लिखते हैं –

इहाँ पवनसुत हृदयँ बिचारा ।
राम काजु सुग्रीवँ बिसारा ॥ ४/१९/१
मन हनुमान कीन्ह अनुमाना ।
मरन चहत सब बिनु जल पाना ॥ ४/२४/४
तरु पल्लव महुँ रहा लुकाई ।
करइ बिचार करौं का भाई ॥ ५/९/१

कपि करि हृदयँ बिचार दीन्हि मुद्रिका डारि तब ।
जनु असोक अंगार दीन्ह हरषि उठि कर गहेउ ॥ ५/१२

– जो भी कार्य करते हैं, उसके पहले विचार अवश्य करते हैं । पर जब उन्होंने लंका को जला दिया तो भगवान ने उनसे पूछा कि सारे कार्य तो तुम विचारपूर्वक करते हो, लेकिन लंका जलाने के पूर्व तुमने जरा भी विचार नहीं किया । हनुमानजी ने कहा – प्रभो, जो कुछ मुझे करना था, वह मैंने विचारपूर्वक किया और

जो मुझसे करवाया गया, वह करवाने वाला विचार करेगा या मैं करूँगा ? अभिप्राय क्या है । हनुमानजी ने कहा – मैं तो बँधकर ही गया था, यह देखने के लिए कि आप मुझसे क्या कराना चाहते हैं । बँधे हुए से तो आप ही काम ले सकते हैं । रावण जैसा व्यक्ति जिसे अपनी स्वतन्त्रता पर अभिमान है, पर वह कितना बुद्धिहीन है ! पग पग पर सिंहासन पर बैठकर भी, मुक्त होकर भी बन्दी है । कहता है –

होइहि भजनु न तामस देहा ।
मन क्रम बचन मन्त्र दृढ़ एहा ॥ ३/२३/५

अपने देह का कैसा गुलाम है रावण । कैसी क्षुद्रता, कैसी देह की बाध्यता उसके जीवन में दिखाई देती है ।

रावण ने कहा कि इस बन्दर को मार डालो । पर हनुमानजी ने अपने को बचाने की कोई चेष्टा नहीं की । प्रभो, आप कह सकते हैं कि तुम तो वाटिका में बड़े दाँव-पेंच दिखा रहे थे – 'कछु मारेसि कछु मरदेसि कछु मेलेसि अति दूर ।' अब यहाँ भी कुछ कला दिखाते । महाराज, जहाँ खुला हुआ था, वहाँ कला का प्रयोग किया, पर यहाँ तो बँधा हुआ हूँ, अब तो कला का प्रयोग आप ही को करना है । अब मैं नहीं अपने को बचानेवाला । अब तो आप जानें और आपका काम जाने । प्रभु ने विभीषण को भेज दिया । विभीषण ने कहा कि मत मारिए और रावण मान गया । पर कुछ न कुछ दण्ड तो देना ही होगा, अतः इस बन्दर की पूँछ को नष्ट कर दो । अब पूँछ नष्ट करने में क्या कठिनाई थी । कह देता कि तलवार से पूँछ काट दो । लेकिन प्रभु तो रावण जैसे लोगों से भी अपना काम करा लेते हैं । रावण को पूँछ नष्ट करने का क्या उपाय सूझा ?

कपि कें ममता पूँछ पर सबहि कहउँ समुझाइ ।
तेल बोरि पट बाँधि पुनि पावक देहु लगाइ ॥५/२४

– पहले इसके पूँछ में कपड़ा लपेटो, फिर घी-तेल डालो और आग लगा दो।

हनुमानजी ने प्रभु को मन ही मन प्रणाम किया और कहा कि त्रिजटा का स्वप्न ही सत्य है। लंका जलाने की योजना प्रभु की ही है। और प्रबन्ध तो उनका और भी विलक्षण है। लंका जलाने का प्रबन्ध आप रावण से ही करा ले रहे हैं। बताइए भला मैं कहाँ से घी, तेल, कपड़ा लाता। सारी व्यवस्था आप ही कराये दे रहे हैं और जिससे जो कराना है, उससे आप वह करा लेते हैं। व्यक्ति की व्यर्थ की धारणा बनी हुई है कि कार्य करनेवाला मैं हूँ। वस्तुतः कार्य करानेवाले तो वे ही हैं। जिससे जो चाहते हैं, करा लेते हैं। यहाँ पर तो हनुमानजी का अन्तःकरण कर्तृत्व अभिमान से शून्य है, इसीलिए गोस्वामीजी विचार शब्द का प्रयोग नहीं कर रहे हैं कि लंका जलाने के पहले हनुमानजी ने इस प्रकार से विचार किया।

यहाँ पर हनुमानजी की भूमिका वैद्य की है। रावण रोगी है। हनुमानजी ने रावण का रोग पकड़ लिया और उसे दवा बताते हैं। पर रावण उनकी हँसी क्यों उड़ाने लगा ? अगर कोई डॉक्टर या वैद्य किसी रोगी को देखने जायँ और रोगी उसकी बातों पर ध्यान न देकर, उसकी शक्ल को देखकर हँसी उड़ाने लगे कि उसकी आँखें कैसी है, नाक कैसी है, चेहरा कैसा है, तब तो वह स्वस्थ होने से रहा। हनुमानजी जब रावण को उपदेश दे रहे थे, तब रावण ने हँसते हुए कहा – तुम्हारे उपदेश से हमें एक बात समझ में आई। क्या ?

बोला बिहसि महा अभिमानी।
मिला हमहि कपि गुर बड़ ग्यानी ॥५/२४/२

– अच्छा तो हमें अब बन्दर ही गुरु के रूप में मिला है। बस, बाहर से देख लिया बन्दर है, बँधा हुआ है। मैं महापण्डित और

यह मेरे सामने ऊँची ऊँची बातें कर रहा है। मुझे सिखाने चला है। हनुमानजी समझ गये कि रावण का रोग साधारण जड़ी-बूटियों से ठीक नहीं होगा। इसीलिए प्रभु ने गहन चिकित्सा पद्धति की योजना की है।

लंका जलाने के पीछे प्रभु का उद्देश्य क्या था ? कई लोग साधारणतया यह अर्थ ले लेते हैं कि रावण नगरों को जला देता था इसलिए प्रभु ने भी उसके नगर को जलवा दिया। पर ऐसा भाव तो भगवान राम के चरित्र में है ही नहीं। बदला नहीं, यहाँ तो चिकित्सा है। बदले की वृत्ति का, हिंसा-प्रतिहिंसा का चक्र कभी समाप्त नहीं होता। पर जहाँ पर उद्देश्य सामनेवाले का कल्याण है, वहाँ तो उसकी कठोरता में भी हित छिपा हुआ है। भगवान राम चाहते थे कि लंका जलाने के पीछे जो उनका उद्देश्य है, उसे रावण समझ ले। इससे उसका कल्याण होगा। रावण समझ बैठा था कि समस्त देवी-देवता और प्रकृति उसके अधीन हैं। अग्नि, जल, वायु, इन्द्र आदि सब उसके इशारे पर चलते हैं। प्रभु चाहते हैं कि रावण का भ्रम दूर हो और वह इस सत्य को समझ ले कि समस्त तत्त्वों का स्वामी वह नहीं, कोई और है।

हनुमान ने लंका में आग लगा दी। लंका जलने लगी। जोरों से हवा भी चलने लगी। आग तेजी से फैल गई। रावण ने मेघों को आदेश दिया कि वर्षा करके आग बुझाओ। वर्षा होने लगी, पर उससे क्या आग बुझी ? वह तो और भड़क उठी – मानो घी-तेल की वर्षा हो रही हो। लंका जलकर भस्म हो गई। रावण उसे नहीं बचा पाया। तब क्या रावण को अपनी असमर्थता का बोध हुआ ? यही रावण की सबसे बड़ी समस्या है। महानतम वैद्य हो, श्रेष्ठतम औषधि हो, पर रोगी उसे सेवन ही न करे, तब क्या होगा ?

जो व्यक्ति अपनी असमर्थता को जान लेता है, उसके मन में भगवान के प्रति भक्ति का उदय होता है। भक्ति की यह मुख्य शर्त है। जब विचार आता है, तब ज्ञान का उदय होता है। कर्तृत्त्वबोध से, पुरुषार्थ से कर्म होता है और असमर्थता की अनुभूति से भक्ति का उदय होता है। यह भक्ति की मुख्य धारा है। यहाँ पर हनुमानजी का मुख्य उद्देश्य क्या है ? गोस्वामीजी अपनी काव्यमयी भाषा में लिखते हैं कि जब किसी व्यक्ति को भीषण रोग हो जाता है और साधारण दवा से वह ठीक नहीं होता, तो उसे सोना-हीरा-मोती का भस्म बनाकर दिया जाता है। रावण का रोग भी असाध्य हो चुका है। उसे हीरे-मोती-सोने का भस्म देना होगा। प्रभु का मानो संकेत था हनुमानजी के लिए कि रावण के लिए भस्म लेने और कहाँ जाओगे। उसके चार सौ कोस के लंका में बहुत हीरा-मोती और सोना भरा पड़ा है। उसे ही फूँककर भस्म बनाओ और रावण को खिलाओ। शायद इससे वह ठीक हो जाय। किन्तु इतने प्रयत्नों के बाद भी रावण का रोग दूर हुआ ? वही सूत्र – रोगी अगर अपने को रोगी ही न माने, वैद्य की बात न माने, दवा का सेवन न करे, तो वह स्वस्थ कैसे होगा ? रावण तो अपने को कभी रोगी मानता ही नहीं, उल्टे वैद्य की ही हँसी उड़ाता है। अब ऐसे रोगी को शंकरजी के समान श्रेष्ठतम वैद्य भी कैसे ठीक कर सकते हैं ?

यही बात मानस-रोगों के सन्दर्भ में भी सत्य है। बुराइयाँ और दुर्बलताएँ तो हमारे मन में भी है , किन्तु क्या हम अपनी बुराइयों को बुराई के रूप में देख पा रहे हैं ? बुराई में अगर हमें बुराई दिख रही है तो उससे बचने की पूरी सम्भावना है। पर जब हमें बुराई में भी अच्छाई दिखने लगे, तब उन बुराइयों को दूर करने का कोई उपाय नहीं है, तब वह असाध्य हो जाती हैं। यही बात गीता में काम के सम्बन्ध में कही गई है। भगवान

श्रीकृष्ण कहते हैं –

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥ ३/४०

– "इन्द्रिय, मन, और बुद्धि – ये सब काम के निवास-स्थान कहे जाते हैं । यह काम इन मन, बुद्धि और इन्द्रियों के द्वारा ही ज्ञान को ढँककर जीवात्मा को मोहित करता हैं ।"

अभिप्राय यह है कि यदि मन और बुद्धि दोनों ही विकारग्रस्त हो जायँ, मन में काम आ जाय और बुद्धि उसका समर्थन करने लग जाय, तब उसको दूर करने का उपाय क्या है ? काम मुख्य रूप से मन से जुड़ा है और बुद्धि अगर उसे दोष या बुराई या रोग के रूप में देख रही है, तो उसे दूर करने की चेष्टा करती है ।

अब कुछ रोग ऐसे हैं जो मुख्य रूप से बुद्धि से जुड़े हुए हैं । गोस्वामीजी 'ज्ञानदीपक' प्रसंग में कहते हैं – **बुद्धिहि लोभ दिखावहिं आई ।** (७/११८/७) – सिद्धियाँ आकर बुद्धि को लोभ दिखाती हैं । बुद्धि लोभ का अधिष्ठान है । साधक जब साधना-पथ पर अग्रसर होता है, तो सिद्धियाँ आकर लोभ दिखाती हैं । अब साधक के सामने समस्या है कि वह चमत्कारों को स्वीकार करे या न करें । अधिकांश साधक तो स्वीकार कर लेते हैं और उनकी साधना में प्रगति रुक जाती है । और उस प्रलोभन से बुद्धि जब रोगग्रस्त हो जाती है, तब हम अपने को क्या कहकर भुलावा देते हैं ? यह कि हम सिद्धियों का दुरुपयोग थोड़े ही करेंगे, अच्छे कामों में लगाएँगे । और इसका परिणाम क्या होता है ? लोककल्याण और आत्मप्रदर्शन ऐसा कुछ घुलमिल जाता है कि साधक की बुद्धि बड़ी सरलता से उसके प्रलोभन में आ जाती है । पर अगर बुद्धि सयानी हुई –

होई बुद्धि जौं परम सयानी ।
तिन्ह तन चितव न अनहित जानी ॥ ६/११८/९

– तो साधक उनकी ओर आँखें उठाकर भी नहीं देखता । जानता है कि इसमें मेरा हित नहीं है । साधक की सफलता इसी में है कि कितनी भी बढ़िया बात क्यों न हो, कितनी भी बुद्धिसंगत बात क्यों न हो, उन सिद्धियों को, उन चमत्कारों को साधक अस्वीकार कर दे । यही संकेत ज्ञानदीपक प्रसंग में किया गया है और यही अयोध्याकाण्ड में है । कैकेयी और मन्थरा के सन्दर्भ में मूल कारण किसको कहा गया है ? देवताओं ने बुद्धि की देवी सरस्वती से निवेदन किया कि वे किसी तरह कैकेयी और मन्थरा की बुद्धि को उलट दें । इसका अभिप्राय क्या है ? अच्छे और बुरे का निर्णय कौन करती है ? बुद्धि । और जिसकी बुद्धि ही उलट दी जाय, तो उसे सब उल्टा दिखेगा । अच्छाई में बुराई और बुराई में अच्छाई दिखाई देने लगेगी । कैकेयी और मन्थरा के जीवन में यही क्रम आपको दिखाई देगा । यह मन्थरा कौन है ? मन्थरा लोभ की प्रतीक है । लोभ से उसकी बुद्धि विकृत हो गई है । पहले अपने लिए संग्रह, उसके बाद दूसरे के सुख को देखकर जलन । जब तक अपने सुख के लिए संग्रह का लोभ है, तब तक लोभ साध्य है; पर जब दूसरों का सुख देखकर ईर्ष्या होने लगती है, तब वह कितना बड़ा अनर्थ कर बैठती है, यह मन्थरा के जीवन में दिखाई देता है ।

किसी ने गोस्वामीजी से पूछ दिया – महाराज, आप स्वर्ग की इतनी निन्दा क्यों करते हैं ? तो उन्होंने कहा कि स्वर्ग में सारे भोग तो मिल जाते हैं पर एक समस्या वहाँ भी बनी रहती है । क्या ? 'स्वर्गहुँ मिटत न सावत' – स्वर्ग में भी सौतिया डाह नहीं मिटती । अपने अगल-बगल वालों को देखते हैं कि उसके पास कितनी अप्सराएँ और कितने भोग हैं । उसकी तुलना में हमारे पास कितना कम है । दूसरों से ईर्ष्या हो रही है । लोभ में तो अपने ही सुख की लालसा है, पर दूसरों के सुख को देखकर जो

हमारे अन्तःकरण में जलन हो रही है, इस दुःख का क्या इलाज है ? तब वह सुखी व्यक्ति को दुःखी बनाने की चेष्टा करता है। यही क्रम मन्थरा के जीवन में दिखाई देगा। मन्थरा को श्रीराम के राज्याभिषेक का समाचार मिला। बुद्धि तो उलटी हुई ही है। अब उसकी वह उलटी बुद्धि बड़ी तीव्रता से सक्रिय हो गई। उसमें बड़ा पैनापन आ गया। राम को राज्य मिलेगा ? राम कितना प्रसन्न होगा, कौशल्या कितनी प्रसन्न होगी। बस, हृदय जलने लगा। नहीं, ऐसा नहीं होने दूँगी। राम का राज्य नहीं होने दूँगी। और वह ऐसा क्यों नहीं होने देना चाहती ? उसकी युक्ति और तर्क देखिए। बुद्धि जब विकृत होती है तो वह निष्क्रिय नहीं, बल्कि अधिक सक्रिय हो उठती है और अपने पक्ष के समर्थन में शास्त्र, धर्म, ईश्वर सबका उपयोग कर लेती है। वह धर्म की एक नई और अद्‌भुत व्याख्या कर लेती है। कहती है – मैं रामराज्य में बाधा उपस्थित करके कोई अधर्म थोड़े ही कर रही हूँ। मैं तो अपने धर्म का पालन कर रही हूँ। मैं कैकेयी की दासी हूँ। सेवक का धर्म यही है कि वह स्वामी के हित की रक्षा करे। मेरे रहते मेरी स्वामिनी की इतनी उपेक्षा ? कैकेयी के पुत्र को छोड़कर कौशल्या के पुत्र को राज्य मिले, तो फिर मैं किस दिन काम आऊँगी ? महाराज कैकेयी ने तो मुझे भेजा ही इसीलिए है कि विशेष रूप से मैं निरन्तर सजग रहकर कैकेयी के हितों की रक्षा करूँ। इसलिए मैं जो कुछ कर रही हूँ, वह धर्मसंगत और न्यायसंगत है। भरत को राज्य दिलाना मेरा धर्म है और भरत के राज्य को सुरक्षित रखने के लिए राम को वन भेज देना मेरी विशेष बुद्धिमत्ता है। इस तरह उसने अपनी ईर्ष्यावृत्ति का समर्थन कर लिया। पहले लोभ, उसके बाद ईर्ष्या, फिर दूसरे के सुख को मिटाने के लिए कुटिल वृत्ति और उसका बुद्धि के द्वारा समर्थन। इस तरह उसका रोग असाध्य हो जाता है। इसीलिए मन्थरा की

स्वस्थता के बारे में आगे चलकर कुछ नहीं कहा गया है। कैकेयी तो बाद में स्वस्थ हो जाती है, पर मन्थरा कभी स्वस्थ हुई – यह नहीं कहा गया। इसका सांकेतिक तात्पर्य यह है कि कैकेयी की बुद्धि में दुर्बलताएँ अवश्य है, पर अन्त में उन्होंने अपनी भूल स्वीकार कर ली और वे स्वस्थ हो गईं। पर मन्थरा तो कभी भी नहीं समझ पाई कि उससे कोई भूल हो रही है। जब शत्रुघ्नजी उसकी चोटी पकड़कर घसीटने लगे, तो मन्थरा ने यह नहीं कहा कि मुझसे भूल हो गई, बल्कि उसने शत्रुघ्नजी से यही कहा –

आह दइअ मैं काह नसावा।
करत नीक फलु अनइस पावा॥ २/१६३/६

– मैं तो भला करने चली थी और यह मेरे साथ कैसा व्यवहार हो रहा है। इसका अभिप्राय यह है कि जब बुद्धि के द्वारा दोषों का समर्थन किया जाता है, तब व्यक्ति समझता है कि लोभ के साथ जीवन में व्यक्ति और समाज की बहुत सी आवश्यकताएँ जुड़ी हुई हैं, इसलिए लोभ करना चाहिए। कोई हमसे आगे न बढ़ जाय, इसलिए ईर्ष्या करना चाहिए और कोई दूसरा हमारी वस्तु को छीन न ले, इसलिए निरन्तर दूसरों को ढकेलते रहना चाहिए। ये वृत्तियाँ एक दूसरे से जुड़ी हुई हैं और समाज में व्याप्त हैं। और जब हम बुद्धि के द्वारा इनका समर्थन करते हैं, तब यह रोग असाध्य हो जाता है। इसलिए स्वस्थता के मूल में सत्य यह है कि पहले हम बुद्धि के द्वारा समझे कि यह रोग है, यह दोष है, यह बुराई है, तभी उसकी चिकित्सा होगी।

वामन-चरित

स्वामी प्रेमेशानन्द

(श्रीमद्भागवत आदि ग्रन्थों में अनेक अवतारों पर चर्चा हुई है। इनमें से मत्स्य, कुर्म, वराह आदि के चरित पौराणिक है और परशुराम, बुद्ध आदि के व्यक्तित्व ऐतिहासिक हैं, जिनके जीवन से हमें हिन्दू समाज के उत्थान-पतन विषयक स्पष्ट संकेत भी मिलते हैं। तथापि इन महान कथाओं के अनुशीलन से प्राप्त होनेवाली शिक्षाएँ तथा आनन्द, इनकी ऐतिहासिकता पर निर्भर नहीं करतीं। रामकृष्ण संघ के वरिष्ठ संन्यासी ब्रह्मलीन स्वामी प्रेमेशानन्दजी ने अपनी सुललित बँगला भाषा में इन्हें पुनः लिखकर प्रकाशित कराया था, उसी 'दशावतार-चरित' नामक पुस्तक से हम इनका अनुवाद क्रमशः प्रकाशित कर रहे हैं। - सं.)

छलयसि विक्रमणे बलिमद्भुत वामन
पद-नखनीर-जनित-जनपावन।
केशव धृत वामनरूप
जय जगदीश हरे॥

– १ –

हिरण्यकशिपु के वध के उपरान्त बालक प्रह्लाद दैत्यों के राजा हुए। अपने पुत्र विरोचन के बड़े हो जाने पर उसी को राज्यभार सौंपकर उन्होंने साधन-भजन में ही पूरा मनोनियोग किया। विरोचन बड़े वीर और दाता थे। दाता के रूप में उनमें बड़ा दम्भ था। इसीलिए देवताओं ने ब्राह्मण-वेष में आकर उनसे आयु की भिक्षा माँगी। विरोचन ने आयुदान करके देहत्याग किया। तब उनके पुत्र बलि राजा हुए।

बलि ने राजा होकर धर्म-कर्म की ओर खूब ध्यान दिया। परन्तु वंशदोष के कारण उनका देवताओं से विरोध था। ईर्ष्या करने से ईर्ष्या बढ़ती गई। फिर उनका देवताओं के साथ युद्ध

हुआ और बलि पराजित तथा अत्यन्त घायल हो गये ।

भृगुवंश के ब्राह्मण बलि के पुरोहित थे । वे लोग बड़े तपस्वी थे । उन लोगों ने अपनी तपस्या के प्रभाव से बलि को स्वस्थ कर दिया और उनसे विश्वजित् यज्ञ का अनुष्ठान कराया । इस यज्ञ के फलस्वरूप उनमें जगत जय करने की शक्ति उत्पन्न हुई । देवताओं के साथ उनका विवाद क्रमशः बढ़ता गया ।

बलि ने पुनः स्वर्ग पर आक्रमण किया । सुरगुरु बृहस्पति ने देवताओं से कहा, "भृगुवंशी ब्राह्मणों की सहायता से बलि ने महाशक्ति का संचय किया है । अब उसे हराना असम्भव है । अतः इस समय तुम लोग युद्ध से विरत हो, स्वर्ग छोड़कर चले जाओ । मर्त्यलोक में गोपनीयतापूर्वक रहते हुए आत्मरक्षा करो । कालक्रम से असुरों की शक्ति नष्ट हो जाने पर तुम लोग पुनः आकर स्वर्ग पर अधिकार कर लेना ।"

देवतागण स्वर्ग छोड़कर चले गए । बलि स्वर्ग के राजा हुए । भृगुवंशी पुरोहित की सलाह पर वे सौ अश्वमेध यज्ञों का अनुष्ठान पूराकर इन्द्र के समान हो उठे । बलि अपने वंशगौरव, स्वयं के गौरव तथा धर्मरक्षा के लिए दोनों हाथों से निर्धनों तथा ब्राह्मणों को दान करने लगे । दान करते करते उनकी दान करने की इच्छा इतनी बढ़ गई कि वे 'कल्पतरु' हो गए, अर्थात उन्होंने अपने पूरे राज्य में यह घोषणा करा दी कि उनसे कोई भी जो कुछ माँगेगा, वह उसे प्राप्त होगा । तीनों लोकों से निर्धनों का कष्ट चला गया । चारों दिशाओं में 'बलि की जय' ध्वनि उठने लगी । असुरों का गौरव चरमसीमा तक जा पहुँचा ।

सब दोषों में बड़ा है अहंकार । अहंकारी का इस दुनिया में कोई मित्र नहीं होता । बलि धार्मिक और दाता होने के अहंकार में फूल उठे थे । उनकी बात पर कुछ कहनेवाला कोई भी न था ।

अहंकार से क्रमशः उनका मन मतवाला हो उठा। बलि जो जी में आए, करते हुए क्रमशः धर्मपथ से विचलित होने लगे। असुरगण भी बलि के गौरव से उन्मत्त होकर लोगों के ऊपर अत्याचार करते फिरने लगे। अपनी जाति के लोगों का मान बचाए रखने तथा उनके बीच अपना प्रभुत्व बनाए रखने के लिए बलि ने यह सब देखकर भी मानो नहीं देखा, सुनकर भी मानो नहीं सुना।

धर्म हृदय की चीज है। जो जितना ही अधिक धार्मिक होता है, उसके धर्म का दिखावा उतना ही कम होता है। धर्म की तड़क-भड़क रहने से लोगों के बीच सम्मान मिलता है। इसीलिए संसार में देखा जाता है कि गलत उपायों से धन अर्जित कर दान करने पर लोगों को बड़ा धार्मिक माना जाता है। इसीलिए मान की इच्छा करनेवाले अनुचित ढंग से धन एकत्र कर खूब दान तथा धूमधाम के साथ पूजा-अर्चना करते हैं। हिन्दू शास्त्र ऐसा करनेवालों को असुर की संज्ञा देते हैं। स्वास्थ्य अच्छा रहे, आयु बढ़े, धन-दौलत में वृद्धि हो, खूब भोग हो, स्वर्ग में निवास हो आदि कामनाओं के साथ जो धर्म किया जाता है, उस धर्म के साथ भगवान का कोई सम्पर्क नहीं। ऐसे लोग भी धर्म करते है, परन्तु आवश्यकता पड़ी तो वे चाहे जैसे भी अनुचित उपायों के सहारे अपने गौरव की रक्षा करते हैं। भोग ही उनका उद्देश्य है, इसीलिए जहाँ धर्म के साथ भोग का विरोध होता है वहाँ पर वे अनायास ही धर्म का परित्याग कर देते हैं। केवल सम्मान, गौरव, शक्ति और भोग ही उनका लक्ष्य होता है। बलि और विशेषकर अन्य असुरगण इसी भाव के थे। तथापि बलि के शरीर में प्रह्लाद का रक्त था, अतः उनका धर्म से भी लगाव था। परन्तु अन्य असुरगण भोग के अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहते थे।

– २ –

कश्यप की पत्नी अदिति देवताओं की माता थीं। देवगण

असुरों के भय से स्वर्ग छोड़कर छद्मवेश धारण किए बड़े कष्ट में दिन बिता रहे थे। इस कारण अदिति के मन में बड़ी पीड़ा थी। कश्यप तो दिन-रात तपस्या में मग्न रहते थे, अतः पुत्रों के मंगल-अमंगल की ओर उनका ध्यान न था। अतएव अदिति खिन्न मन के साथ भगवान से निरन्तर अपने पुत्रों के मंगल हेतु प्रार्थना करती रहती थीं। अदिति की आकुलता देखकर कश्यप ने उन्हें तरह तरह के व्रतों का उपदेश दिया। अदिति की तपस्या से नारायण सन्तुष्ट हुए और उनसे वर माँगने को कहा।

अदिति बोलीं, "प्रभो, अपने पुत्रों का दुख अब मुझसे सहा नहीं जाता। उनके शत्रुओं का विनाश करके आप मुझे कृतार्थ करें।"

नारायण ने कहा, "उनके कर्मों का क्षय हुए बिना विनाश करना असम्भव है। तुम प्रतीक्षा करो। युगधर्म की स्थापना के लिए मैं तुम्हारे गर्भ से जन्म लूँगा। तब मैं असुरों को स्वर्ग से भगा दूँगा। तुम अत्यन्त पवित्र भाव से जीवन बिताओ। और यह बात किसी के सामने व्यक्त न करना।"

अदिति दिन-रात भगवान की आराधना में लगी रहीं। कुछ काल बाद उनकी कोख से एक ब्रह्मतेजोमय अपूर्व शिशु का जन्म हुआ। पाँच वर्ष का हो जाने पर बालक को बुद्धिमान तथा श्रुतिधर देखकर कश्यप ने उन्हें गायत्री मन्त्र की दीक्षा प्रदान की। थोड़े ही दिनों में बालक समस्त विद्याओं में पारंगत हो गए। उनकी उमर बढ़ने पर भी शरीर उसी पाँच वर्ष के बालक के समान रह गया। इसीलिए वे 'वामन' नाम से परिचित हुए।

– ३ –

नर्मदा नदी के तट पर भृगुकच्छ नाम का एक रमणीय स्थान था। बलि ने वहाँ जाकर एक अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान किया।

दैत्यों के कूटबुद्धि गुरु यज्ञ के प्रधान परिचालक थे। जगत के समस्त वेदज्ञ ब्राह्मण सभा में उपस्थित हुए। विभिन्न दिशाओं से कितने ही ब्राह्मण और निर्धन लोग बलि के यज्ञ में आकर स्वेच्छानुसार दान ग्रहण कर उन्हें आशीर्वाद देते हुए लौटने लगे। अन्नदान, वस्त्रदान, भूमिदान, गोदान, स्वर्गदान – हर प्रकार का दान चल रहा था। जगत में दारिद्र्य दुख को दूर करने का संकल्प लेकर बलि ने 'कल्पतरु' का रूप लिया था। बलि की जय-जयकार से दशों दिशाएँ गूँज रही थीं।

एक दिन वामनदेव भी सिर के ऊपर छोटा सा छाता लगाए हुए बलि की सभा में आ पहुँचे। उन ब्रह्मतेजोमय बालमूर्ति की अपूर्व मुखश्री ने बरबस ही सभा में उपस्थित सभी का ध्यान आकृष्ट कर लिया। धूप से उनका मुख लाल हो गया था। उनके मासूम मुखमण्डल पर थकान के चिह्न देखकर सबके मन में स्नेहभाव का उदय हुआ। बलि ने अपने हाथ से आसन देकर उन्हें बैठाया; कितने दूर से आ रहे हैं, किसके पुत्र हैं आदि पूछते हुए उनके पाँव धुलाए, सिर पर अर्घ्य और खाने को मधुपर्क दिया। प्राचीन काल में किसी माननीय अतिथि के आने पर उनका इसी प्रकार स्वागत करने की प्रथा थी।

भिक्षार्थीगण जिस प्रकार दाता के यश का कीर्तन करते हैं, अधिक पाने की आशा में दाता को उत्तेजित करते हैं, वामनदेव भी उसी प्रकार बलि तथा उनके पुरखों की कीर्ति के विषय में अपने मधुर कण्ठ से व्याख्यान करने लगे। हिरण्यकशिपु की वीरता, प्रह्लाद की भक्ति, विरोचन की दानशीलता और बलि के यज्ञ, दान, विनय, सौजन्यता आदि का वे ऐसा अद्भुत वर्णन करने लगे कि सभा में स्थित सभी लोग मुग्ध हो गए। सबने सोचा, "यह छोकरा आज कोई राज्य आदि लेकर ही मानेगा।"

बलि अत्यन्त विनीत भाव से बोले, "प्रभो, यदि आप इस

दास से कोई दान ग्रहण करें, तो मैं कृतार्थ हो जाऊँ।" वामनदेव ने कहा, "हाँ, मैं एक छोटी-सी प्रार्थना लेकर ही आया हूँ; क्योकि आप ही दाताओं में सर्वश्रेष्ठ हैं। मैं तीन पाँव के माप की भूमि चाहता हूँ।"

वामनदेव की प्रार्थना सुनकर सभा में उपस्थित कोई भी अपनी हँसी नहीं रोक सका। बलि ने कहा, "प्रभो, आप बालक हैं। आप अपना स्वार्थ बिल्कुल भी नहीं समझते। लगता है आपने कभी किसी से कोई याचना नहीं की है, केवल कुतूहलवश ही मेरे पास आ पहुँचे हैं। मैं तीनों लोकों का स्वामी का स्वामी हूँ। आप मुझसे ऐसा कुछ माँगिए, जिससे फिर कभी माँगना न पड़े।"

वामनदेव बोले, "यदि मन में तृप्ति न रहे तो ससमुद्र पृथ्वी का मालिक होकर भी अभाव दूर नहीं नहीं होता। इन्द्रियों के वश में होने के कारण त्रिपाद भूमि मिल जाने से ही मैं सन्तुष्ट हो जाऊँगा। मैं इससे अधिक कुछ और नहीं चाहता।"

तब बलि ने तीन पाँव भूमि दान करने के लिए हाथ में जल लेने को उन्मुख हुए। शुक्राचार्य अब तक चुपचाप सारी बातें सुन रहे थे। वे भलीभाँति समझ गए थे कि ये ब्राह्मण बालक कोई छद्मवेशी देवता ही हैं। इसीलिए उन्होंने बलि को दान करने से मना किया। परन्तु अभिमानी तथा तेजस्वी राजा बलि एक बार 'दूँगा' कहने के बाद भय के कारण फिर 'नहीं दूँगा' कहने को किसी भी हालत में राजी नहीं हुए। शुक्राचार्य ने उन्हें बहुत समझाया। बलि ने कहा, "मैं प्रह्लाद का पौत्र और विरोचन का पुत्र हूँ। मेरे पितामह ने जिस सत्य के लिए अपने बाल्यकाल में इतने कष्ट सहे थे, पिता ने जिस सत्य के लिए देहत्याग किया था, मै किसी भी कीमत पर उस सत्य को भंग नहीं कर सकता। ये छद्मवेशी देवता हो तो भी मेरा क्या नुकसान होगा ? सत्य का पालन करने के फलस्वरूप मेरी तो सद्गति ही होगी। जीवन के

भय से सत्य को भंगकर मैं नरकगामी नहीं होना चाहता।" यह कहते हुए उन्होंने कमण्डलु को हाथ में उठा लिया। शुक्राचार्य युक्ति-तर्क के द्वारा उन्हें रोकने में असमर्थ होकर योगबल से कमण्डलु में घुस गए और भीतर से उसका मुख बन्द कर दिया। हाथ में जल लेकर ही दान का संकल्प किया जाता है। बलि ने कमण्डलु का मुख बन्द देखा तो वे कुश के द्वारा खोदकर पानी का मार्ग खोल देने का प्रयास करने लगे। कुश की चोट से शुक्राचार्य की एक आँख फूट गई। उन्होंने कमण्डलु के भीतर से ही बलि को शाप दिया, "तू श्री से भ्रष्ट हो जा।"

बलि ने वेदमन्त्रों का उच्चारण कर वामनदेव को तीन पाँव भूमि का दान किया। सहसा वामनदेव का डीलडौल बदल गया। उन्होंने एक पाँव के द्वारा सम्पूर्ण पृथ्वी को आवृत्त कर लिया और दूसरे पाँव से आकाश को ढँक लिया। अब तीसरा पाँव रखने को स्थान ही न बचा। दोनों पाँवों के बीच से तीसरा पाँव बाहर निकालकर वे बलि से बारम्बार पूछने लगे कि उसे कहाँ रखे। सभा में उपस्थित सभी लोग आतंक से सिहर उठे। बलि किंकर्तव्यविमूढ़ हो गए और वामन उत्तेजित होकर कहने लगे, "राजन, तुम्हीं ने तो कहा था कि तुम मेरे समस्त अभावों को दूर करने में समर्थ हो। मुझको तुमने अबोध शिशु कहा था; क्यों, अब तुम अपने वचन का पालन क्यों नहीं करते ? अब सत्य को भंग करने के परिणामस्वरूप तुम नरक में जाने को तैयार हो जाओ।" यह कहकर देवदूतों का आह्वान करते ही उन लोगों ने आकर बलि को बाँध लिया। दैत्यों ने अपने राजा की ऐसी दुर्दशा देखकर मायावी वामनदेव के ऊपर आक्रमण कर दिया। परन्तु बलि ने उन लोगों को रोक दिया। पूरे राज्य में हाहाकार मच गया।

प्रह्लाद निर्जन स्थान में रहकर दिन-रात श्रीकृष्ण के ध्यान

में मग्न रहते थे। संकट में पड़े हुए बलि उन्हीं का स्मरण करने लगे। उनके इष्टदेव का आविर्भाव होने के कारण उनकी समाधि टूटी। वे राजसभा में जा पहुँचे। नारायण की यह अद्‌भुत मूर्ति देखकर वे प्रेम में विह्वल होकर उनकी स्तुति करने लगे। वामनदेव ने तीव्र स्वर में बलि के सत्यभंग की बात प्रह्लाद से कही। प्रह्लाद बोले, "प्रभो, दाता के रूप में बलि को बड़ा अहंकार था। परन्तु इसके फलस्वरूप उसे योगियों के लिए भी दुर्लभ आपके श्रीचरणों का दर्शन हुआ। आपकी करुणा किसी हेतु के अधीन नहीं हैं। आप यज्ञफल के दाता हैं, दर्शन देकर आपने यज्ञ को पूरा किया। अब अपना तीसरा चरण बलि के मस्तक पर रखकर, आप सत्यभंग के पाप से इसकी रक्षा करें।"

अब बलि का सारा अहंकार चूर्ण हो चुका था। श्रीहरि की कृपा से उनकी दिव्यदृष्टि खुल गई थी। उन्होंने पूरे हृदय से वामनदेव के चरणों में आत्मसमर्पण किया। भक्तवत्सल प्रभु ने अपना तीसरा चरण बलि के मस्तक पर रखकर उनके वचन की रक्षा की और प्रसन्न होकर बोले, "बलि, तुम असुरों के चिर-निकेतन पाताल चले जाओ। आज से तुम अमर रहोगे और मैं हाथ में गदा लिए तुम्हारे द्वार की रक्षा करूँगा।" आत्मसमर्पण के फलस्वरूप बलि भगवान की अनन्त कृपा पाकर कृतार्थ हुए। देवतागण पुनः स्वर्ग पर अपना अधिकार पाकर सुखी हुए।

बलि का गर्वहरण कर वामन ने युगधर्म का प्रचार किया। असुरों का प्रभाव दूर हुआ और धर्मप्राण लोगों के शान्ति की उपलब्धि हुई। (अगले अंक में 'परशुराम चरित')

श्री चैतन्य महाप्रभु (२५)

स्वामी सारदेशानन्द

(ब्रह्मलीन लेखक की रचनाओं में बँगला में लिखित उनका 'श्री श्रीचैतन्यदेव' ग्रन्थ अपने विषय पर एक प्रमाणिक रचना मानी जाती है। प्रस्तुत है उसी के धारावाहिक अनुवाद की अगली कड़ी। - सं.)

ज्ञानगुरु भगवान शंकर का प्रिय निकेतन काशी चिरकाल से ही विद्या का केन्द्र रहा है। पहले तो चैतन्यदेव की वहाँ अधिक दिन बिताने की इच्छा न थी, परन्तु महादेव की इच्छा से उनका काफी दिन काशीवास हुआ। वहाँ निवास करते समय वे भक्तों के साथ भक्तिशास्त्र पर चर्चा तथा भजन-कीर्तन के द्वारा भक्तिधर्म का प्रचार करते थे और अब उनके प्रिय अन्तरंग सनातन के आ जाने से उस चर्चा आदि में और भी वृद्धि हो गयी। इसी अवसर पर उन्होंने भक्तिमार्ग के प्रधान आचार्य, प्रचारक और संरक्षक श्रीमत् सनातन को तत्वज्ञान की शिक्षा दी थी। 'चैतन्य-चरितामृत' ग्रन्थ में सनातन को जीव-जगत, ईश्वरतत्त्व और भक्ति-उपासना की प्रणाली के विषय में उनके उपदेश देने का प्रसंग सविस्तार वर्णित हुआ है। उससे चैतन्यदेव द्वारा प्रचारित भक्तिमार्ग का विशेष परिचय मिलता है। सनातन ने जब शरणागत होकर चैतन्यदेव से तत्त्व के विषय में प्रश्न किए, तो उन्होंने शास्त्र और युक्ति की सहायता उनके एक एक प्रश्न के उत्तर में जो तत्त्वोपदेश दिये थे, पाठकों की तृप्ति के लिए उसका कुछ अंश हम प्रश्नोत्तर के रूप में ही उपस्थित करते हैं –

प्रश्न – विश्व का कारण मूल वस्तु क्या है ?

उत्तर – ब्रह्म से ही विश्व का जन्म होता है, ब्रह्म में ही वह जीवित रहता है और पुनः उसी ब्रह्म में लय हो जाता है।

प्रश्न – परब्रह्म, परमात्मा और भगवान – ये तीनों एक ही वस्तु हैं, तथापि अलग-अलग नामों से इनका निर्देश करने का हेतु क्या है ?

उत्तर – ज्ञान, योग और भक्ति इन तीन साधनों के द्वारा वे ब्रह्म, आत्मा और भगवान इन त्रिविध रूपों में अभिव्यक्त होते हैं।

प्रश्न – जीव का स्वरूप क्या है ?

उत्तर – जीव स्वरूपतः श्रीकृष्ण का नित्यदास है। सूर्य की रश्मियाँ जैसे अग्नि की ज्वाला में परिवर्तित हो जाती हैं, वैसे ही कृष्ण की तटस्था शक्ति विभिन्न रूपों (अर्थात् स्रष्टा और सृष्टि) में प्रकाशित हो रही है।

प्रश्न – परब्रह्म परमात्मा – भगवान कृष्ण का नित्यदास – अंश होकर भी जीव के त्रिताप का क्या कारण है ? और फिर मुक्तिलाभ किस प्रकार हो सकता है ?

उत्तर – अनादि काल से जीव कृष्ण को भूलकर बहिर्मुख हो गया है, अतः माया उसे संसार में घुमाते हुए दुःख देती है। कभी वह जीव को स्वर्ग में उठाती है तो कभी नरक में डुबाती है। जो कोई साधु-शास्त्र की कृपा से कृष्णोन्मुख हो जाता है, उसी को माया छोड़ देती है और वही (इस भवसागर से) तर जाता है।

प्रश्न – जगत की उत्पत्ति किस प्रकार हुई है ?

उत्तर – वे ही अपनी माया के द्वारा ब्रह्माण्डों का सृजन करते हैं। जड़रूपा प्रकृति ब्रह्माण्डों का कारण नहीं है, क्योंकि ईश्वर की शक्ति के बिना जड़ से सृष्टि नहीं हो सकती।

प्रश्न – अवतार का तत्त्व क्या है ?

उत्तर – जो मूर्ति विश्व (कल्याण) के लिए इस जगत प्रपंच के बीच अवतरित होती है, उसी ईश्वरी मूर्ति को अवतार कहते हैं। जो सबके अवस्थान – मायातीत परमाकाश हैं, वे ही विश्व में अवतरित होकर अवतार कहलाते हैं। कृष्ण के असंख्य लीला-वतार हैं। पुराणों में उनके मत्स्य, कूर्म, रामचन्द्र, नृसिंह, वामन,

वराह आदि प्रधान अवतारों की गणना तथा चरित्रचित्रण है।

प्रश्न – इस प्रकार माया के सृष्टिकार्य से क्या उनके शुद्ध सत्-चित्-आनन्द स्वरूप में ह्रास नहीं होता ?

उत्तर – यद्यपि उन्हीं में संसार स्थित है, वे ही सबके आश्रय हैं, अन्तरात्मा के रूप में वें जगत के आधार हैं और प्रकृति के साथ उनका पारस्परिक सम्बन्ध हैं; तथापि प्रकृति के साथ उनका स्पर्श तक नहीं होता। गीता में यही बात बारम्बार कथित हुई है कि ईश्वरतत्त्व सदैव अचिन्त्य शक्ति होती है। एक दृष्टि से मैं जगत में निवास करता हूँ और जगत मुझमें; दूसरी दृष्टि से न तो मैं जगत में निवास करता हूँ और न जगत मुझमें।

प्रश्न – वे एक होकर भी किस प्रकार जगत में अनेक रूपों में लीला कर रहे हैं ?

उत्तर – भगवान कृष्ण स्वयं ही अद्वय-ज्ञानतत्त्व हैं और स्वरूप-शक्ति के रूप में उनका अवस्थान होता हैं। अपने एक अंश को विभिन्न अंशों के रूप में अभिव्यक्त करके वे अनन्त बैकुण्ठों और ब्रह्माण्डों में विहार करते हैं। चतुर्व्यूह[१] अवतारगण उनके स्वांश का विस्तार हैं और विभिन्नांश जीव उनकी शक्ति से उत्पन्न हुए हैं। विभिन्नांश जीव दो प्रकार के हैं, एक नित्यमुक्त और दूसरे नित्यसंसारी। नित्यमुक्त जीवों का मन सदा कृष्ण के चरणों की ओर उन्मुख रहता है। कृष्ण के पार्षद कहलाने वाले, वे उनकी सेवा में ही सुख पाते हैं। नित्यबद्ध जीव सर्वदा कृष्ण से विमुख रहकर संसार के नरकादि दुःख भोगा करते हैं। इसी दोष के फलस्वरूप माया-पिशाची उन्हें दण्ड देने के लिए सर्वदा उन्हें त्रिविध तापों से दग्ध करती रहती है। ये जीव काम-क्रोध के दास होकर उसकी लातें खाते रहते है। भटकते भटकते यदि उन्हें

१. सृष्टि आदि कार्यों के लिए उनके चार रूप या विभाग है – वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध।

साधु-वैद्य मिल जाता है, तो उनके उपदेश-मन्त्र से पिशाची भाग जाती है और वह जीव कृष्णभक्ति पाकर उनकी ओर अग्रसर होता है।

प्रश्न – कृष्ण का स्वरूप-तत्त्व सुनने की इच्छा है।

उत्तर – सनातन, अब कृष्ण का स्वरूप सुनो। व्रजेन्द्रनन्दन अद्वय-ज्ञानतत्त्व हैं, सबके आदि तथा सबके अंशी हैं, स्वयं भगवान कृष्ण ही चिदानन्द देह में सर्वाश्रय व सर्वेश्वर हैं और उन्हें गोविन्द नाम से भी पुकारते हैं। गोलोक में उनका सर्वैश्वर्यपूर्ण नित्यधाम है। ज्ञान, योग तथा भक्ति – इन तीन साधनों के द्वारा वे ब्रह्म, आत्मा और भगवान – इन तीन रूपों में अभिव्यक्त होते हैं। सूर्य जैसे चर्मचक्षुओं के समक्ष ज्योतिर्मय भासित होता वैसे ही निर्गुण ब्रह्म का अखण्ड प्रकाश उनकी अंगकान्ति है। परमात्मा भी कृष्ण के ही एक अंश हैं। आत्माओं के आत्मा कृष्ण सबके शिरोमणि हैं। भक्त को भगवान् के एक ही विग्रह में अनन्त स्वरूपों का पूर्णरुपेण अनुभव होता है।... एकमात्र कृष्ण ही सर्वाश्रय हैं, सर्वधाम हैं, उन्हीं के शरीर में सम्पूर्ण विश्व विश्राम करता है। जिसे कृष्ण के स्वरूप तथा उनकी तीन शक्तियों का ज्ञान हो जाता है उसके लिए कृष्ण के विषय में कुछ भी जानना शेष नहीं रह जाता।

प्रश्न – तीन शक्तियाँ कौन कौन सी हैं ?

उत्तर – चित्-शक्ति ही उनकी स्वरूप-शक्ति है, उसे अन्तरंग-शक्ति भी कहते है। उसका वैभव अनन्त है और वैकुण्ठादि में धाम है। फिर उनकी माया-शक्ति वहिरंग होकर जगत का कारण है। उसका भी वैभव अनन्त है और वह ब्रह्माण्डों के रूप में अभिव्यक्त होती है। तटस्थ नाम की उनकी जीव शक्ति का कोई ओर-छोर नहीं है। उनकी इन तीन मुख्य

शक्तियों के असंख्य विभेद हैं । यही उनका स्वरूप और तीन शक्तियाँ है । कृष्ण सबके आश्रय हैं और कृष्ण में ये सभी स्थित हैं। यद्यपि ब्रह्माण्डों के आश्रय पुरुष हैं तथापि उन पुरुषादिकों के भी मूलाश्रय कृष्ण हैं। सभी शास्त्रों का कहना है कि 'कृष्ण स्वयं भगवान् हैं', कृष्ण सर्वाश्रय है और 'कृष्ण परम ईश्वर हैं' ।

प्रश्न – स्वरूप-शक्ति का विवरण सुनने की मेरी इच्छा है ।

उत्तर – पूर्ण सच्चिदानन्द ही कृष्ण का स्वरूप है । उनकी एक ही चित्-शक्ति तीन रूप धारण करती है । उनके आनन्दांश को हम ह्लादिनी, सदंश को सन्धिनी और चिदंश को संवित् के रूप में जानते हैं । सन्धिनी के सार अंश को हम शुद्धसत्त्व रहते है। उसी में भगवान की सत्ता विश्राम करती है । माता-पिता, घर, शय्या और आसनादि – ये सब कृष्ण के शुद्धसत्त्व के विकार हैं । संवित् का सार है – कृष्ण भगवान का तत्त्वतः ज्ञान और ब्रह्मज्ञानादि सब उसी के भेद हैं । ह्लादिनी का सार प्रेम है और यह प्रेम ही सार-भाव है । भाव की पराकाष्ठा को महाभाव कहते हैं ।... श्रीमती राधामहाभाव-स्वरूपिणी हैं, सर्वगुणसम्पन्न हैं और कृष्ण-कान्ताओं में शिरोमणि हैं । कृष्ण अपनी क्रीड़ा की सहायता से जैसा रसास्वादन कराते हैं, अब उसका विवरण सुनो । कृष्ण की तीन प्रकार की प्रेयसियाँ है – एक तो लक्ष्मीगण हैं, फिर उनकी पटरानियाँ हैं और तदुपरान्त ब्रजांगनाएँ हैं। उनकी समस्त प्रेयसियाँ श्रीमती राधिका की ही विविध अभिव्यक्तियाँ हैं । जैसे अवतारी कृष्ण का अवतार होता है वैसे ही अंशिनी राधा से भी इन तीन गणों का विस्तार होता है । लक्ष्मीगण उनके अंश की विभूतियाँ तथा महीषियाँ उनकी प्रतिबिम्ब हैं । लक्ष्मीगण उनके वैभव-विलास का और महीषिगण उनके प्रभाव-प्रकाश का स्वरूप हैं । व्रज की देवियाँ उनके आकार व स्वभाव के भेद से हुई हैं और उनके रस की अभिव्यक्ति के रूप में बहु कायाओं में प्रकट

हुई हैं। अनेक प्रेयसियों के बिना रसोल्लास नहीं हो सकता, इसीलिए लीला की सहायता से उनका प्राकट्य हुआ है। इनमें से गोविन्दनन्दिनी, गोविन्दमोहिनी, गोविन्दसर्वस्व और सर्वकान्ता-शिरोमणि राधारानी व्रज में नाना भाव से नाना प्रकार से कृष्ण को रसादि का लीलास्वादन कराती हैं। इस कारण वे सर्वपूज्य, सर्वपालिका, परम देवता और जगदम्बा हैं।

प्रश्न – श्रीराधा और श्रीकृष्ण विभिन्न हैं या अभेद वस्तु हैं ?

उत्तर – राधा पूर्ण शक्ति हैं और कृष्ण पूर्ण शक्तिमान हैं। शास्त्रों के कथनानुसार दोनों में कोई भेद नहीं। जैसे कस्तूरी और उसका गन्ध अभेद है, जैसे अग्नि और उसकी ज्वाला में भेद नहीं, वैसे ही राधाकृष्ण सदा एक ही स्वरूप हैं, परन्तु लीलारस का आस्वादन करने को वे युगलरूप धारण करते हैं।

प्रश्न – वस्तु का ज्ञान किस प्रकार होता है ?

उत्तर – स्वरूप लक्षण और तटस्थ लक्षण इन दोनों के द्वारा मुनिगण वस्तु का ज्ञान प्राप्त करते हैं। आकृति प्रकृति को स्वरूप लक्षण कहते हैं तथा कार्य द्वारा ज्ञान होने को तटस्थ लक्षण कहते हैं।

प्रश्न – भगवद्भक्ति का क्या स्वरूप है ?

उत्तर – श्रवणादि क्रिया उसका स्वरूप लक्षण है और तटस्थ लक्षण से प्रेमधन की उत्पत्ति होती है। कृष्णप्रेम नित्यसिद्ध[२] है, वह कभी साध्य नहीं हो सकता, श्रवणादि[३] के द्वारा शुद्धचित्त में

---

२. कृतिसाध्या भवेत् साध्य-भावा सा साधनाभिधा।
नित्यसिद्धस्य भावस्य प्राकट्यं हृदि साध्यता॥ भक्तिरसामृतसिन्धु
– विविध प्रकार की क्रियाओं और प्रयत्नों के फलस्वरूप अभीष्टलाभ करने को साधना कहते हैं, परन्तु नित्यसिद्ध वस्तु की अन्तर में उपलब्धि ही उसकी साधनासिद्धि है।

३. श्रवणादि – श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चना, वन्दना, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन – ये ही नवधा भक्ति हैं। इनमें श्रवण, कीर्तन और स्मरण

उसकी अभिव्यक्ति होती है।

प्रश्न – (प्रेम) भक्ति की साधनप्रणाली सुनना चाहता हूँ।

उत्तर – साधन भक्ति के दो प्रकार हैं – एक है वैधी भक्ति और दूसरी रागानुगा भक्ति। अनुरागरहित लोग शास्त्र के निर्देशानुसार जो भजन करते हैं, उसी को सर्व शास्त्रों में वैधी भक्ति कहते हैं।

प्रश्न – शास्त्र में वैधी भक्ति के चौसठ अंगों का उल्लेख हुआ है, उनमें से मुख्य कौन कौन से हैं ?

उत्तर – साधुसंग, नामकीर्तन, भागवतश्रवण, मथुरावास और श्रीमूर्ति का श्रद्धापूर्वक सेवन – ये पाँच अंग ही सकल साधनों में श्रेष्ठ हैं। इन पाँचों के अल्प संग से भी कृष्णप्रेम का उदय होता है।

प्रश्न – रागानुगा भजन की प्रणाली किस प्रकार की है ?

उत्तर – रागानुगा की प्रकृति शास्त्र-युक्ति की परवाह न करते हुए लोभपूर्वक व्रजवासियों के भाव का अनुगमन करती है। इसके बाह्य और आन्तरिक दो प्रकार के साधन हैं। बाह्य रूप में साधक शरीर के द्वारा श्रवण-कीर्तन करता है और मन ही मन अपने को सिद्ध मानकर रात-दिन व्रज के कृष्ण सेवा करता है। अन्तर्मना होकर वह अपने अभीष्ट प्रिय कृष्ण के पीछे लगे रहकर निरन्तर उनकी सेवा करता रहता हैं। इस रागानुगा मार्ग में दास, सखा, पिता, प्रेयसी आदि विभिन्न भाव हैं। जो कोई इस प्रकार रागानुगा -भक्ति करता है, उसके चित्त में कृष्ण के चरणों के प्रति प्रीति उत्पन्न होती है। इस प्रेमांकुर से रति और भाव उत्पन्न होते हैं, जिनसे भगवान वश में आ जाते हैं।

– वाचिक हैं; पादसेवन, अर्चना और वन्दना – कायिक है; तथा दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन – मानसिक हैं।

प्रश्न – साधन-भजन में प्रमुख विघ्न क्या है ?

उत्तर – असत्-संग का त्याग करना ही वैष्णव आचार है। एक तो स्त्रीसंगी का और दूसरे कृष्णभक्तिहीन असाधु का संग त्याग देना चाहिए।

प्रश्न – साधुसंग का क्या फल होता है ?

उत्तर – साधुसंग ही कृष्णभक्ति के उदय का मूल है। फिर कृष्णप्रेम से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

प्रश्न – भजनशील व्यक्ति को किस प्रकार जीवन यापन करना चाहिए ?

उत्तर – अभक्तों का संग त्याग दे, ज्यादा शिष्य न बनावे, अनेक ग्रन्थों व कलाओं का त्याग कर दे, व्याख्यान न दे और हानि-लाभ को समान मानते हुए वह शोकादि के वशीभूत न हो। वह अन्य देवों व अन्य शास्त्रों की निन्दा न करे, विष्णु तथा वैष्णवों की निन्दा और गाँव की बातें न सुने। मन तथा वाणी से वह किसी भी प्राणी को कष्ट न दे।

प्रश्न – रागमार्ग और विधिमार्ग में अनुभूति का क्या तारतम्य है ?

उत्तर – रागभक्ति और विधिभक्ति इन दोनों के द्वारा भगवत्तत्त्व की भी दो भिन्न रूपों में उपलब्धि होती है। रागभक्ति के द्वारा साधक को व्रज में साक्षात भगवान की प्राप्ति होती है[४] और विधिभक्ति से वह उनके पार्षद के रूप में वैकुण्ठलोक जाता है।

प्रश्न – उस परम तत्त्वस्तु को ब्रह्म क्यों कहते हैं ?

---

४. 'कर्म, तप, योग, ज्ञान, वैधीभक्ति, जप, ध्यान – माधुर्य इन सबकी अपेक्षा दुर्लभ है। जो रागमार्ग के द्वारा अनुरागपूर्वक श्रीकृष्ण को भजता है, केवल उसी को उनके माधुर्य की प्राप्ति सुलभ है।'

उत्तर – ब्रह्म शब्द का अर्थ है बृहत्तम । स्वरूप और ऐश्वर्य में कोई भी उनके समतुल्य नहीं है । स्वयं भगवान कहते हैं कि ब्रह्म शब्द से एकमात्र वह अद्वितीय ज्ञान ही अभिप्रेत है ।

प्रश्न – उन्हें परमात्मा क्यों कहते हैं ?

उत्तर – परमात्मा शब्द का अर्थ है – कृष्ण का सर्वव्यापक, सर्वसाक्षी, परम और बृहत्-स्वरूप । ...उन कृष्ण की प्राप्ति के ज्ञान, योग और भक्ति ये तीन प्रकार के साधन हैं, जिनके पृथक-पृथक लक्षण हैं । इन तीन साधनों के द्वारा भगवान – ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवत्तत्त्व – इन तीन रूपों में प्रकट होते हैं । यद्यपि ब्रह्म और आत्मा का अर्थ कृष्ण ही है, तथापि प्रचलित अर्थ में ब्रह्म को निर्गुण तथा आत्मा को अन्तर्यामी कहते हैं । ज्ञानमार्ग के द्वारा निर्गुण ब्रह्म की और योगमार्ग के द्वारा अन्तर्यामी स्वरूप की उपलब्धि होती है ।

प्रश्न – प्रेमभक्ति का तत्त्व मैं विशेष रूप से सुनना चाहता हूँ ।

उत्तर – यदि भाग्यवश किसी जीव में श्रद्धाभाव का उदय होता है, तो वह जाकर साधुसंग करता है । साधुसंग के फलस्वरूप उसका श्रवण-कीर्तन होता है । फिर साधना और भक्ति के द्वारा उसके सारे अनर्थ दूर हो जाते हैं और उसके चित्त में भक्तिनिष्ठा का उदय होता है । निष्ठा से श्रवणादि में रुचि उत्पन्न होती है, रुचि से तीव्र आसक्ति का प्रादुर्भाव होता है और आसक्ति से चित्त में कृष्ण-रति का अंकुरण होता है । इस रति के प्रगाढ़ होने पर ही उसे प्रेम की आख्या देते हैं और वह प्रेम ही जीवन का प्रयोजन तथा सर्व आनन्दों का मूल है । जिसके हृदय में इस भावांकुर का उदय होता है, शास्त्र उमसें निम्नलिखित लक्षणों का निर्देश करते हैं । वास्तविक क्षोभ का कारण उपस्थित होने पर भी

वह क्षुब्ध नहीं होता और कृष्ण-सम्बन्ध से रहित अपना एक क्षण भी व्यर्थ नहीं जाने देता। इन्द्रियों के भोग और सिद्धियों के प्रति उसे अरुचि होती है। सर्वश्रेष्ठ होकर भी वह अपने को दीन-हीन मानता है और कृष्ण की कृपा में उसे दृढ़ विश्वास रहता है। उसके चित्त में सदा उत्कण्ठा और लालसा बनी रहती है और सर्वदा रुचिपूर्वक वह कृष्ण का नाम-कीर्तन करता है। उसे सदा कृष्ण का गुणगान करने में आसक्ति होती है और वह सर्वदा कृष्ण के लीलास्थानों में निवास करता है। कृष्ण- रति के लक्षणों का वर्णन मैंने कर दिया, अब तुम कृष्ण-प्रेम के चिह्न सुनो। जिसके चित्त में कृष्णप्रेम का उदय होता है, उसकी बाह्य क्रिया, मुद्रा आदि को विज्ञजन भी समझने में अपने को अक्षम पाते हैं। यह प्रेम वर्धित होता हुआ क्रमशः स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव और महाभाव में परिणत हो जाता है। जैसे एक ही गन्ने के रस से शीरा, गुड़, शक्कर, देशी मिश्री और शुद्ध मिश्री तैयार होती है और जैसे इनकी निर्मलता के क्रम से इनके स्वाद में वृद्धि होती जाती है, वैसे ही रति प्रेमादि में भी रसास्वादन बढ़ता जाता है। अधिकारी भेद से रति के शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर – ये पाँच प्रकार हैं। ये पाँच स्थायी भाव ही वे पंच रस हैं, जिनसे भक्त सुखी होता है और कृष्ण वशीभूत होते हैं। (क्रमशः)
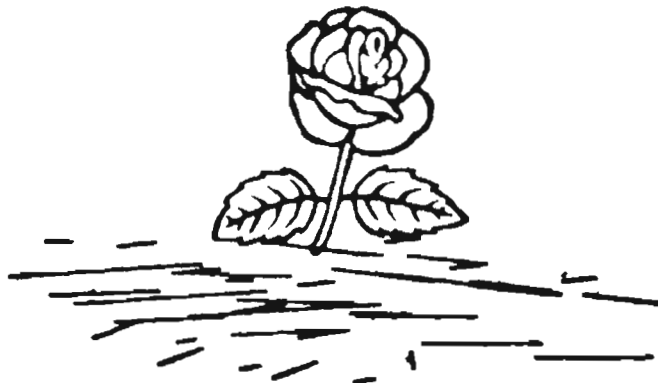
मानव-जीवन में धर्म का प्रयोजन (२)

स्वामी सत्यरूपानन्द

धर्म मनुष्य की मानसिक आश्यकता है

क्या धर्म के बिना मनुष्य मानसिक रूप से स्वस्थ और सबल नहीं रह सकता ? इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिये हमें दर्शन एवं मनोविज्ञान के जटिल सिद्धान्तों को जानने की आवश्यकता नहीं। हमारे सामान्य जीवन का अनुभव ही हमें यह बता देगा कि धर्म के बिना मानसिक रूप से स्वस्थ और सबल रहना असम्भव है।

इन्द्रिय-सुखों और भोगों से हम सभी परिचित हैं। इन्द्रिय-सुखों के स्वभाव तथा परिणाम को भगवान ने गीता में अत्यन्त सरल ढंग से हमे बताया है। विषय तथा इन्द्रियों से मिलने वाला सुख कैसा है –

विषयेन्द्रियसंयोगाद यत्तदग्रेमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥ १८/३८

– विषय और इन्द्रियों से मिलनेवाला सुख पहले (भोग काल में) अमृत के समान लगता है, किन्तु परिणाम में वह विष के समान होता है। यह सुख राजस कहा गया है।

सुस्वादु भोजन का अधिक मात्रा में लिया गया सुख, अजीर्ण के साथ नाना प्रकार के रोगों का कारण होता है। उसी प्रकार सभी इन्द्रियों से मिलनेवाला सुख भोग के समय तो बहुत अच्छा लगता है, क्षण भर के लिये आनन्ददायक होता है, किन्तु हम सभी का अनुभव यह बताता है कि उन भोगों का परिणाम मानसिक सन्ताप तथा शारीरिक रोगों में ही होता है। जो व्यक्ति भोग के प्रारम्भ काल में ही सजग सावधान होकर इन्द्रियों और मन को संयत नहीं कर लेता, वह अन्त में इन्द्रियों और विषयों का दास हो जाता है और हम सभी यह जानते हैं कि इन्द्रियों का

दास व्यक्ति कितना अशान्त और दुखी होता है।

धर्म आत्मसंयम सिखाता है

विषय-भोगों के दुष्परिणामों का विचार कर उनसे बचने के लिये आत्मसंयम की आवश्यकता होती है। आत्मसंयम का अभ्यास करने के लिये जीवन में एक महत आदर्श की नितान्त आवश्यकता होती है। केवल 'खाओ, पियो और भोग करते रहो' – के भौतिक आदर्श से जीवन में आत्मसंयम का अभ्यास नहीं किया जा सकता।

जीवन का वह आदर्श जो मनुष्य को देवता बना देता है, नर को नारायण बना देता है, वह केवल धर्म में ही प्राप्त हो सकता है। धर्म ही मनुष्य को उसकी दिव्यता का बोध कराकर अपनी पशु वृत्तियों का दमन कर अपने भीतर के देवत्व को जागृत करने की प्रेरणा देता है। धर्म हमारे हृदय में अव्यक्त रूप से विराजमान ब्रह्म को व्यक्त कर देता है।

असंयत इन्द्रियाँ और अनियंत्रित मन ही हमारे दुखों और अशान्ति का कारण है। अनियंत्रित मन ही मानसिक अस्वस्थता है। मानसिक रोग है। हम सभी यह जानते हैं कि रुग्ण शरीर ले कर जैसे कोई व्यक्ति कभी सुखी नहीं रह सकता, ठीक उसी प्रकार, रुग्ण मन लेकर भी कोई व्यक्ति कभी सुखी और शान्त नहीं रह सकता। उतना ही नहीं, मानसिक रोग शारिरिक रोगों की तुलना में बहुत अधिक कष्टदायी होता है। मनुष्य का मन जब उसके नियंत्रण के सर्वथा बाहर हो जाता है, तब वह पागल हो जाता है।

मानसिक स्वास्थ्य पर ही जीवन की सफलता निर्भर करती है। मन को स्वस्थ रखने के लिये उसे नियंत्रित करना परम आवश्यक है। बाहरी शक्तियाँ मनुष्य के मन को नियंत्रित नहीं

कर सकतीं। बाहर की शक्तियों के भय से मनुष्य भले ही अपने मन के भावों और विचारों को व्यक्त न करे। या उन्हें दबाकर कपटपूर्वक ही भाव, विचार आदि व्यक्त करे, जैसा कि बाह्य नियंत्रण उसे करने को बाध्य करता है। किन्तु मन में उसके दूसरे ही भाव-विचार होते हैं। मन के भावों और विचारों में परिवर्तन आता है व्यक्ति के स्वप्रयत्न से। जब मनुष्य स्वयं अपने भीतर परिवर्तन लाना चाहता है। जीवन को उन्नत एवं विकसित करने के लिए स्वयं को बदलना चाहता है। तब वह अपने मन पर स्वयं नियंत्रण करने का प्रयत्न करता है। यह नियंत्रण आन्तरिक होता है। भीतर से होनेवाला यह नियंत्रण ही वस्तुतः मन को संयत कर स्वस्थ करता है। धर्म मनुष्य को आन्तरिक नियंत्रण की सर्वोच्च प्रेरणा देता है। धर्म पर आस्था रखकर अपने आचरण को शुद्ध करने के प्रयत्न में लगा हुआ व्यक्ति कठिन से कठिन परिस्थितियों में, भय और प्रलोभनों के बीच भी अपने मन को नियंत्रित रखने का आप्राण प्रयत्न करता है। मन को शुद्ध तथा संयत रखने के लिये वह सभी प्रकार के बलिदान करने को भी प्रस्तुत रहता है। त्याग और बलिदान की यह महती शक्ति उसे धर्म से प्राप्त होती है। अतः इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मन को स्वस्थ और सबल रखने के लिये धर्म आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है।

धर्म मनुष्य की आध्यात्मिक आवश्कता है

यह इन्द्रियगम्य दृश्यमान जगत परम सत्य का एक क्षीण आभास मात्र है; इन्द्रियातीत परम सत्य का संकेत मात्र है। व्यक्ति एवं ब्रह्माण्ड के पीछे जो परम सत्य है वह इन्द्रियातीत है। इन्द्रियातीत होने पर भी वह शुद्ध मन का गोचर है, अनुभवगम्य है। इन्द्रियातीत तत्त्व का अनुभव ही आध्यात्मिकता है। यही मानव जीवन का प्रयोजन और उसकी सार्थकता है।

हम सभी यह अनुभव करते हैं कि यह जगत परिवर्तनशील

है। यहाँ कुछ भी स्थायी नहीं है। किन्तु क्या इस परिवर्तनशील जगत के पीछे कोई अपरिवर्तनीय शाश्वत तत्त्व नहीं है ? परिवर्तन स्वयं एक अपरिवर्तनीय तत्त्व की ओर संकेत करता है। अपरिवर्तनीय तत्त्व की धारणा के बिना परिवर्तन का ज्ञान ही नहीं हो सकता। जैसे नदी हमें बहती हुई इसलिये दीखती है, क्योंकि उसके किनारे प्रवहमान नहीं हैं। वे स्थिर हैं। ठीक इसी प्रकार यह विश्व ब्रह्माण्ड परिवर्तनशील इसलिये प्रतीत होता है, क्योंकि इसके पीछे एक कूटस्थ अपरिवर्तनीय सत्ता विद्यमान है।

इस नियम के अनुसार हमारा व्यक्तित्व भी परिवर्तनशील है तथा साथ ही हमारे व्यक्तित्व के पीछे भी एक स्थायी अपरिवर्तनीय तत्त्व विद्यमान है। हमारे ऋषियों ने हमें यह बताया है कि जो पिण्ड में है, वही ब्रह्माण्ड में है। जो व्यष्टि में है वही समष्टि में भी है। अतः यदि व्यष्टि का, पिण्ड का ज्ञान हो जाय, तो समष्टि का, ब्रह्माण्ड का भी ज्ञान हो जाएगा।

हमारे स्वयं का व्यक्तित्व ही हमारे लिये सबसे अधिक रहस्य का विषय है। स्वयं के बारे में हमारा ज्ञान अत्यन्त अल्प है। ऋषियों का आदेश है, **'आत्मनं विद्धि'** – अपने आपको जानो। अपने आपको पूर्ण रूप से जान लेना ही सच्ची आध्यात्मिकता है। अपने सच्चे स्वरूप का ज्ञान ही आध्यात्मिक ज्ञान है। आत्मज्ञान से ही जीवन में परम तृप्ति एव परिपूर्णता का बोध होता है। इसी का नाम जीवन्मुक्ति है। यही भगवान का साक्षात्कार है। यही निर्वाण है। यही मानव जीवन का लक्ष्य है।

आध्यात्मिक ज्ञान क्यों प्राप्त करें ?

कई बार मन में यह प्रश्न आता है कि आध्यात्मिक ज्ञान क्यों प्राप्त करें ? उससे हमें क्या लाभ होगा ? क्या मिलेगा ? हिन्दू शास्त्रों में आत्मज्ञान के फल का विषद वर्णन है। गीता में

स्वयं भगवान कृष्ण हमें आत्मज्ञान का फल बताते है –

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥ ६/२२

– जिसे पा लेने पर उससे अधिक मूल्यवान और कोई भी वस्तु नहीं लगती अर्थात उसकी तुलना में सभी वस्तुएँ तुच्छ प्रतीत होती हैं। तथा जिसमें स्थित होकर मनुष्य कठिन से कठिन दुख में भी विचलित नहीं होता।

अब यह विचार करके देखें कि हममें से कौन ऐसा व्यक्ति है, जो इस प्रकार की अवस्था प्राप्त नहीं करना चाहता। हम सभी ऐसी अवस्था प्राप्त करना चाहते हैं, जहाँ संसार की कोई भी वस्तु, व्यक्ति, घटना आदि हमें दुख न दे सके।

मनुष्य के दुखों का एक बहुत बड़ा कारण है – सन्देह और मन की गाँठ। आधुनिक मनोवैज्ञानिक भी हमें यह बताते हैं कि मानसिक ग्रन्थियाँ हमारे अस्वस्थ मन एवं अस्वस्थ शरीर के बहुत बड़े कारण हैं। यही ग्रन्थियाँ हमारे मन में आसक्ति और मोह उत्पन्न कर हमें जन्म-मरण के चक्र में घुमाती रहती हैं। उपनिषद स्पष्ट शब्दों में हमें बताते हैं कि आत्मज्ञान या आध्यात्मिक अनुभूति होने पर हमारे सभी सन्देह दूर हो जाते हैं, मन की सभी ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं –

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥ मुण्डक.२/२/८

– सभी के कारणभूत उस पर एवं अवर परम पुरुष को देख लेने पर, उसका अनुभव कर लेने पर, मनुष्य के हृदय की सभी ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं। सभी संशय नष्ट हो जाते हैं तथा उसके सभी कर्मों का क्षय हो जाता हैं।

यही जीवनमुक्ति है। यही तो परम आनन्द की अवस्था है।

कौन ऐसा व्यक्ति है जो इस अवस्था को प्राप्त करना न चाहता हो ? इस अवस्था को प्राप्त करने के उपाय का नाम ही धर्म है।

धर्म आत्मा का विज्ञान और जीवन की कला है

धर्म आत्मा का विज्ञान है। इस विज्ञान को जाने बिना, जीवन में इसका आचरण किये बिना मनुष्य कभी भी अभावों से पूरी तरह मुक्त नहीं हो सकता, उसे शान्ति नहीं मिल सकती। जीवन में किसी भी प्रकार की उपलब्धि के लिये परिश्रम करना पड़ता है, मूल्य देना पड़ता है। जीवन के इस परम लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये भी साधना करनी पड़ती है। आध्यात्मिक उपलब्धि के लिये की जानेवाली यह साधना ही धर्म है।

आध्यात्मिक साधना का आदि-अन्त 'मन' ही है। मन के संयत और शुद्ध करने की प्रक्रिया से धर्मजीवन की साधना प्रारम्भ होती है तथा मन के पूर्णतः शुद्ध हो जाने पर आत्म-साक्षात्कार में इसका अवसान होता है। धर्म वह विज्ञान है जो हमें आत्मा के सच्चे स्वरूप, मन के स्वभाव, जीवन के प्रयोजन आदि का ज्ञान देता है।

धर्म द्वारा दिये गये ज्ञान को जीवन में उतारना, उसका आचरण करना – यही जीवन जीने की कला है। धर्म हमें सफल और सार्थक जीवन जीने की इस कला को भी सिखाता है, अतः धर्म जीवन की कला भी है।

धर्म एक अन्तर-यात्रा है। यह अपने ही भीतर प्रविष्ट होकर अपने सच्चे स्वरूप के सन्धान की प्रक्रिया है। इस यात्रा में मनुष्य को बाहर से भीतर जाना होता है। अपने भीतर जाने पर ही व्यक्ति अपने गुण-दोषों से परिचित होता है। अपना मूल्यांकन कर पाता है। अपने मूल्यांकन के पश्चात ही मनुष्य के लिये किसी भी क्षेत्र में प्रगति करना सम्भव होता है। धर्म ही अपने

भीतर जाने की कला है । कठोपनिषद में यमराज नचिकेता से कहते हैं –

> **पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभू-**
> **स्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् ।**
> **कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षद्**
> **आवृत्तचक्षुरमृतत्त्वमिच्छन् ॥ २/१/१**

– स्वयंप्रकाश परमात्मा ने इन्द्रियों के द्वार बाहर की ओर ही बनाये, इसलिये (मनुष्य) बाहर की ओर ही देखता हैं, अन्तरात्मा को नहीं । किसी धीर पुरुष ने अमृत पद प्राप्त करने की इच्छा से आँख आदि इन्द्रियों को बाहर की ओर से लौटाकर अन्तरात्मा को देखा ।

आध्यात्मिक अनुभूति प्राप्त करने के लिये इन्द्रियों को अन्तर्मुखी करना आवश्यक है । इन्द्रियाँ जब अन्तर्मुखी होने लगती हैं, तब मन भी धीरे धीरे शान्त और एकाग्र होने लगता है। मन जब पूर्णतः शुद्ध हो जाता है तब वह शान्त और एकाग्र हो जाता है । यह एकाग्र मन इन्द्रियों का स्वामी होता है तथा उन्हें पूर्णतः अन्तर्मुखी करने में समर्थ होता है । मन के एकाग्रतापूर्वक पूर्णतः शान्त होते ही इन्द्रियों की समस्त चेष्टाएँ निरुद्ध हो जाती हैं । यही अन्तर्मुखी अवस्था है । इसी अवस्था में आत्मा का साक्षात्कार होता है । यही आध्यात्मिक ज्ञान है ।

मन और इन्द्रियों की ऐसी अवस्था प्राप्त करने के लिये उन पर पूर्ण नियंत्रण होना आवश्यक है । यह नियंत्रण कहीं बाहर से नहीं आ सकता । यह नियंत्रण मनुष्य की अपनी इच्छा से उसके भीतर से ही आता है । भीतर का यह नियंत्रण धर्म के द्वारा ही सम्भव है । बाहर का कोई भी नियंत्रण हमारे मन और इन्द्रियों को अन्तर्मुखी नहीं कर सकता । यह कार्य तो आध्यात्मिकता और धर्म ही कर सकता है । इसका कोई विकल्प नहीं है । कोई दूसरा

उपाय नहीं है।

धर्म के द्वारा ही व्यक्ति बाहर और भीतर के संसार को जीत कर मन की यह परम साम्य अवस्था प्राप्त करने में समर्थ होता है। मन की यह साम्य अवस्था प्राप्त होते ही व्यक्ति ब्रह्म या परम सत्य में प्रतिष्ठित हो जाता है। गीता हमें बताती है –

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः॥ ५/१९

– जिनका मन साम्यावस्था में स्थित हो गया है, उन्होंने यहीं इस संसार को जीत लिया है। चूँकि ब्रह्म निर्दोष एवं सम है, अस्तु निर्दोष और साम्य अवस्था में स्थित मन ब्रह्ममय ही हो जाता है।

जिस व्यक्ति ने इस प्रकार की साम्यावस्था प्राप्त कर ली है वही सच्चा धार्मिक है। ऐसा व्यक्ति ही दृढ़चरित्र होता है। मानव चरित्र का चरम विकास यही है। यही जीवन की कृतार्थता और सफलता है। यही मानव जीवन का चरम लक्ष्य है। जिस समाज में ऐसे धर्मनिष्ट चरित्रवान लोगों की संख्या जितनी अधिक होगी, वह समाज उतना ही उन्नत और सम्पन्न होगा। ऐसे उन्नत समाज में ही व्यक्ति के विकास के सुअवसर सर्वसाधारण को प्राप्त हो सकेंगे।

इस प्रकार उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य के सर्वांगीण विकास के लिये धर्म अत्यन्त आवश्यक है। धर्म के बिना व्यक्ति और समाज दोनों का कल्याण सम्भव नहीं है।

स्वामी विवेकानन्द : एक स्मृति

तारकनाथ राय

[लेखक बंगाल के विभिन्न स्थानों में जिलाधीश रहे। बँगला में लिखित तीन खण्डों में उनका 'पाश्चात्य दर्शन का इतिहास' उनकी प्रतिभा का समुचित निदर्शन कराता है। प्रस्तुत स्मृतिकथा उन्होंने ७५ वर्ष की आयु में लिखी थी, जिसे हम बँगला 'उद्बोधन' मासिक के श्रावण, १३६१ (बं.सं.) अंक से हिन्दी अनुवाद के रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं। - स.]

जीवन के सांध्यकाल में पहुँचकर जब अपने अतीत की ओर दृष्टि डालता हूँ, तो एक दिन की स्मृति स्पष्ट रूप से उद्‌भासित हो उठती है। उस दिन मुझे स्वामी विवेकानन्द के चरणों में बैठकर एक घण्टे से भी अधिक काल तक उनकी अमृतोपम वाणी सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

यह १८९९ ई. की घटना है। तीन वर्ष पूर्व १८९६ ई. में मैं एन्ट्रेन्स पास करने के बाद कॉलेज मे पढ़ने कलकत्ता आया था। शिकागो धर्मसभा में एक अख्यात अज्ञात संन्यासी की विजय-वार्ता समाचार-पत्र में मैंने पढ़ी थी। तदुपरान्त समग्र अमेरिका में स्वामीजी के विपुल स्वागत का संवाद भी भारत के सभी समाचार-पत्रों में प्रकाशित हुआ था। एक दिन समाचार आया कि स्वामीजी देश लौट रहे हैं। उनके स्वागत के लिए मद्रास और कलकत्ता में तैयारियाँ होने लगीं। राजा विनयकृष्ण अभ्यर्थना-समिति के सचिव या अध्यक्ष हुए थे। जिस दिन स्वामीजी सियालदह स्टेशन पर पहुँचे, उस दिन दल-के-दल लोग उन्हें देखने के लिए सियालदह स्टेशन गए थे। मैं भी गया था। स्वामीजी को एक सुसज्जित गाड़ी में बैठाकर कुछ उत्साही युवक गाड़ी खींच रहे थे। स्वामीजी गाड़ी के ऊपर दण्डायमान हाथ जोड़े दोनों तरफ के अगणित जन-समुदाय की अभ्यर्थना स्वीकार कर रहे थे। मैंने देखा कि हैरिसन रोड के एक दुमंजले भवन के बरामदे में खड़े एक जटाधारी संन्यासी ने दोनों हाथ उठाकर

स्वामीजी को आशीर्वाद दिया और स्वामीजी ने उस ओर देखते हुए उन्हें प्रणाम किया। पूछने पर पता चला कि जटाधारी श्रीमत विजयकृष्ण गोस्वामी हैं।

इसके बाद शोभाबाजार के राजभवन में आयोजित जिस विराट सभा में स्वामीजी का अभिनन्दन किया गया, वहाँ भी मैं उपस्थित था; परन्तु दूर से स्वामीजी का व्याख्यान सुन नहीं सका। स्टार थियेटर तथा और भी दो-एक स्थानों पर मैंने स्वामीजी के व्याख्यान सुने थे, परन्तु उन्हें ठीक से समझ नहीं सका था। दक्षिणेश्वर में एक उत्सव में जाकर स्वामीजी को अपने हाथों से साधु-संन्यासियों को खिलाते भी मैंने देखा। परन्तु स्वामीजी के साथ वार्तालाप करने का सुयोग मुझे कहीं भी नहीं मिल सका था।

वह सुयोग मुझे देवघर में प्राप्त हुआ। १८९९ ई. में जलवायु-परिवर्तन के उद्देश्य से देवघर पहुँचकर मैंने सुना कि स्वामीजी उस समय वहीं निवास कर रहे थे। एक दिन मैं उनके आवास पर पहुँचा, तो सुनाई दिया – कोई दुमंजिले पर बैठे उदात्त स्वर में गीता पाठ कर रहे थे। मैं नीचे बैठकर प्रतीक्षा करने लगा। थोड़ी देर बाद स्वामीजी खड़ाऊँ पहने नीचे उतर आए। क्षण भर मैं अपलक दृष्टि से उनके मुखमण्डल की ओर देखता रहा। स्मरण है कि 'बंगवासी' समाचार-पत्र ने स्वामीजी को अहिन्दू सिद्ध करने का प्रयास किया था। शास्त्रवचन का उल्लंघन करते हुए जिन्होंने शुद्र* होकर भी संन्यास ग्रहण किया था और समुद्र-पार यूरोप, अमेरिका जाकर अहिन्दुओं द्वारा स्पृष्ट भोजन किया था, 'बंगवासी' उन्हें हिन्दू कहकर स्वीकार करने को तैयार न था। उसे पढ़कर मेरे मन में भी स्वामीजी की हिन्दुत्व-विषयक धारणा के सम्बन्ध में सन्देह उठा था। परन्तु उस प्रतिभादीप्त मुख की ओर देखते ही मेरा सारा संशय दूर हो गया।

---

* वस्तुतः स्वामीजी का जन्म कायस्थ कुल में हुआ था। - सम्पादक

ऐसा लगा मानो आर्य संस्कृति उनके भीतर मूर्तिमान हो गई है। मैंने भूमिष्ठ होकर उन्हें प्रणाम किया और आदेश पाकर बैठ गया।

क्या कहूँ – यही सोच रहा था। स्वामीजी ने पूछा, "किस लिए आए हो ?" मैंने कहा, "चरण दर्शन करने आया हूँ।" हल्की-सी मुस्कुराहट के साथ वे बोले, "और कुछ नहीं ?" मैं क्या कहता ? बोला, "आपके मुख से कुछ सुनने की इच्छा है।" उन दिनों मैं नया नया दर्शनशास्त्र पढ़ रहा था। स्वामीजी पाश्चात्य देशों में वेदान्त दर्शन का प्रचार कर आए थे। अतः मैंने पूछा, "पाश्चात्य दार्शनिकों में आप किसको सर्वश्रेष्ठ मानते हैं ?" उन दिनों हेगेल के दर्शन ने हमारे देश के दार्शनिकों के बीच प्रबल प्रभाव फैलाया था। सोचा था कि स्वामीजी हेगेल का ही नाम लेंगे। परन्तु उन्होंने स्पिनोजा को पाश्चात्य दार्शनिकों में सर्वश्रेष्ठ कहा। स्पिनोजा भी अद्वैवादी हैं, परन्तु मायावादी नहीं। जगत उनके लिए माया नहीं, बल्कि सत्य है। स्वामीजी ने भी जगत को अनित्य कहा है, मिथ्या नहीं कहा।

और भी एक प्रश्न मैंने स्वामीजी से पूछा था। न पूछने से ही अच्छा होता। क्योंकि प्रश्न करते ही मुझे स्वामीजी के चेहरे पर नाराजगी की झलक दीख पड़ी थी। अवतारवाद की कोई भी युक्तिसंगत व्याख्या मेरे देखने में नहीं आई थी। यह बात मैं कभी समझ नहीं सका कि जिनकी इच्छा और वास्तविकता में कोई भेद नहीं, जिनकी इच्छा ही रूप ग्रहण कर हमारे लिए इन्द्रियग्राह्य होती है, समग्र विश्व ही जिनके लिए इन्द्रियग्राह्य-रूप है, किसी विशेष उद्देश्य की सिद्धि के लिए उनका एक विशिष्ट नररूप धारण भला कैसे हो सकता है ? मैंने पूछा, "परमहंसदेव को क्या आप अवतार के रूप में विश्वास करते हैं," वे बोले, "विश्वास करने में बाधा ही कहाँ है ? श्रीकृष्ण के बारे में तो कितनी

उल्टी-सीधी कहानियाँ वर्णित हैं। इसके उपरान्त भी तो हम उन्हें अवतार मानकर विश्वास करते हैं। और इन निष्कलंक-चरित चिरब्रह्मचारी, निरक्षर तथापि सर्वशास्त्र में पारंगत करुणामय ब्राह्मण को अवतार मानकर विश्वास करने में बाधा ही कहाँ है?" बाधा थी तो मेरी अपनी ईश्वर विषयक धारणा में ही। परन्तु मैंने उसे व्यक्त नहीं किया।

इसके बाद मैंने कुछ और नहीं कहा। स्वामीजी अपने यूरोप के अनुभव सुनाने लगे। अमेरिकन लोग कितने बड़े राष्ट्र हैं; अंग्रेज, फ्रांसीसी तथा जर्मन कितने बड़े हैं और हम लोग उनकी तुलना में कितने छोटे हैं! वे लोग अपने देश और जाति से कितना प्रेम करते हैं! और हम लोग? संकीर्ण-मन, आत्मसर्वस्व – हमने देश के लिए अब तक कितना स्वार्थ-विसर्जन किया है? ज्ञान-विज्ञान में वे कितने उन्नत हैं! हम लोग कितने पिछड़ गए हैं! परन्तु चिरकाल से ही हम ऐसे नहीं थे। पूर्वकाल में हमने जितना दूसरों से लिया है, उसकी अपेक्षा काफी अधिक हमने जगत को दिया है। कभी हम जगत के गुरु थे। हम पुनः जगत के गुरु होंगे। यही भारत की नियति है। भारत चिरकाल तक विदेशियों के पदावनत होकर नहीं रहेगा, यह उसकी नियति में नहीं है। विगत गौरव का काल फिर लौटेगा। अंग्रेजों ने अपनी सभ्यता हमारे कन्धों पर लाद दी है। परन्तु हमारी सभ्यता, हमारी संस्कृति चिरकाल तक दबी नहीं रहेगी। अंग्रेजी भाषा चिरकाल तक भारत की राष्ट्रभाषा नहीं रहेगी। संस्कृत ही हमारी राष्ट्रीय भाषा है और वही हमारी राष्ट्रभाषा तथा lingua franca होगी। कौन कहता है संस्कृत भाषा सीखनी कठिन है? मेरी इच्छा है कि कुछ संस्कृत प्राइमर लिखूँ। कितनी सहजता से संस्कृत सीखी जा सकती है, यह मैं दिखा दूँगा। 'गोमुख से निःशब्द झरनेवाली पूत वारिधारा' के समान उस पूत वचनधारा में मैं डूबा

रहा। अकस्मात वे रुक गए। मेरी भी बाह्य चेतना लौटी। उन्हे प्रणाम कर मैंने विदा ली। इसके बाद मैंने उन्हें फिर कभी नही देखा।

संन्यासी स्वामीजी ने मुझे ईश्वर के सम्बन्ध में उपदेश नहीं दिया, वेदान्त अथवा राजयोग के विषय में कुछ नहीं कहा। एक घण्टे तक उन्होंने जो कुछ कहा था, उसका उद्देश्य था मेरे मन में धारणा कराना कि वे भारत को किस रूप में पुनर्गठित करना चाहते हैं। स्वाधीन स्वप्रतिष्ठित आत्मसम्मानगर्वी भारत उनकी साधना की वस्तु थी। उनका स्वप्न, उनकी साधना का फल, उनके तिरोभाव के बाद अल्पकाल में ही समग्र भारत में व्याप्त हो गया था। महाराष्ट्र में तिलक, पंजाब में लाला लाजपतराय और बंगाल में अरविन्द ने उनके स्वप्न को रूपायित करने के लिए आत्मोत्सर्ग किया था। उनके स्वप्न का आधा हिस्सा वास्तविकता में परिणत हो चुका है। राष्ट्रीय स्वाधीनता हमें प्राप्त हो चुकी है। परन्तु आर्य संस्कृति का समग्र उद्धार अब भी नहीं हुआ है। जब तक वह नहीं होता, तब तक स्वाधीनता का स्थायित्व संशय के परे नही होगा।
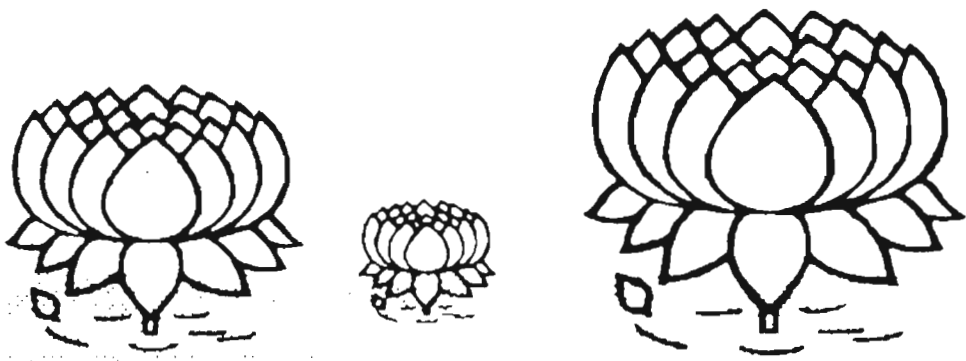
तीर्थों का महत्व

स्वामी आत्मानन्द

हमारी संस्कृति में तीर्थों की जो परिकल्पना की गयी है, उसमें धार्मिक और आध्यात्मिक तत्त्व तो निहित हैं ही, साथ ही राष्ट्र को एकत्व के सूत्र में जोड़ने के महत्त्वपूर्ण तत्त्व भी उसके भीतर छिपे हुए हैं। हमारी संस्कृति मानव-जीवन को निष्प्रयोजन नहीं मानती, अपितु एक स्पष्ट और निर्दिष्ट लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उसे साधन के रूप में स्वीकार करती है। उस लक्ष्य को उसने 'मोक्ष' कहकर पुकारा है। मोक्ष का तात्पर्य है समस्त प्रकार के मानसिक बन्धनों से मुक्ति। मनष्य अपने मन के द्वारा बँधा हुआ है और इसलिए अपने शरीर तथा इन्द्रियों में सीमाबद्ध हो जाता है। उसमें क्षमता तो अनन्त है, पर शरीर, मन और इन्द्रियों के द्वारा सीमित हो जाने के कारण वह अपनी इस क्षमता को आवरित कर लेता है। मोक्ष का अर्थ है – अपनी इस छिपी अनन्त क्षमता को उद्घाटित कर लेना और व्यापक बन जाना। इसी को दूसरे शब्दों में ईश्वर-दर्शन, आत्म-साक्षात्कार आदि कहकर पुकारा गया है।

तीर्थों की परिकल्पना में इस मोक्ष का सर्वोपरि स्थान और महत्त्व रहा है। 'तरति अनेन इति तीर्थम्' – इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिसके द्वारा मनुष्य इस अपार सांसारिकता से तर जाय, उसे तीर्थ माना गया है। यदि 'तीर्थ' शब्द का आधुनिक ढंग से निर्वचन किया जाय, तो 'ती' शब्द से 'तीन' और 'र्थ' से 'अर्थ' – प्रयोजन लेना चाहिए। इस प्रकार जिसमें तीन अर्थों की सिद्धि हो अर्थात् तीन पदार्थों की प्राप्ति हो, उसे 'तीर्थ' कहते हैं। पदार्थ का तात्पर्य है प्रयोजन और अर्थ। हमारी संस्कृति ने संसार में चार पदार्थ माने हैं – धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इन चारों में से अर्थ यानी धन तो तीर्थयात्रा करने में ही खर्च होता है, अतः

उसकी सिद्धि वहाँ प्रायः सम्भव नहीं हैं। इसलिए धर्म, काम और मोक्ष – इन तीनों की सिद्धि तीर्थयात्रा से मानी गयी है। (१) सात्त्विक पुरुष तो मोक्ष के लिए ही तीर्थयात्रा करते हैं। (२) धर्मसंग्रह के लिए सात्त्विक और राजसी – दोनों प्रकार के ही मनुष्य तीर्थयात्रा करते हैं। (३) केवल इहलौकिक और पारलौकिक कामनाओं की सिद्धि के लिए ही राजसी मनुष्य तीर्थयात्रा करते हैं। इनमें धर्मसंग्रह के लिए निष्काम भाव से तीर्थयात्रा करनेवाले मनुष्य सात्त्विक हैं और सकाम भाव से यात्रा करनेवाले राजसी हैं; क्योंकि निष्कामभाव से की हुई तीर्थयात्रा का फल मुक्ति है और सकाम भाव से की हुई तीर्थयात्रा का फल इस जीवन में भोग तथा परलोक में स्वर्गादि के भोगों की प्राप्ति है।

तीर्थ से बढ़कर विश्व-भाषाओं में वस्तुतः दूसरा सुन्दर शब्द नहीं है। इसका तारक – समुद्धारक होना ही इसकी अनुपमता का परिचायक है। तीर्थों के तीन रूप माने गये हैं – (१) जंगम (२) मानस और (३) भौम। आचारसम्पन्न सन्त-महात्मागण जंगमतीर्थ के रूप हैं। वे जहाँ जाते हैं, उसे तीर्थ बना देते हैं – 'तीर्थी कुर्वन्ति तीर्थानि'। वह तो मनुष्य ही है, जो किसी स्थान को तीर्थ बना देता है। और तब वह तीर्थ दूसरे मनुष्यों को पावन करने लगता है। मानसतीर्थ का अर्थ है – सत्य, क्षमा, दान, दया, दम, तप, ज्ञान, सन्तोष, धैर्य, धर्म और चित्तशुद्धि। तथा विभिन्न पवित्र स्थल भौमतीर्थ कहलाते हैं।

हमारे पुराणों ने बहुत सोच-समझकर तीर्थयात्रा करने का आदेश दिया है। वे जानते थे कि यदि 'यात्रा के लाभ' के नाम पर देशवासियों से घूमने को कहा जाएगा, तो बहुत कम लोग 'यात्रा का लाभ' उठाएँगे – रुपये-पैसे की किल्लत, सांसारिक झंझट तथा अस्वास्थ्य आदि न जाने कितने बहाने एवं कठिनाइयाँ निकल आएँगी। परन्तु स्वभाव से ही धर्मभीरु हिन्दू 'धर्म' के नाम

पर अपना परलोक बनाने के लिए सारी परिस्थितियों की अवहेलना करते हुए धर्मलाभ के लिए अवश्य तीर्थयात्रा करेंगे और अप्रत्यक्ष रूप से यात्रा के सब लाभों को प्राप्त कर सकेंगे। वैसे भी तीर्थयात्रा करने से अनेक लाभ हैं। स्थान स्थान की वेशभूषा, रहन-सहन आचार-विचार, रंग-रूप, भाषा, वनस्पति, पैदावार आदि भिन्न भिन्न होती है। अतः तीर्थयात्री का ज्ञान व अनुभव विस्तृत होता है और उसमें उदारता आती है। धार्मिक ऐतिहासिक, भौगोलिक, कलात्मक, आर्थिक तथा सामयिक ज्ञान तो उसे होता ही है – मन्दिर और मूर्ति के सामने जाकर, श्रद्धा से नतमस्तक हो, अपने कालुष्य का विसर्जन करके कुछ समय तक यात्री आत्मविस्मृत हो इस लोक से इस लोक में पहुँच जाता है। निश्चय रूप से स्थायी तथा सात्त्विक प्रभाव उसके हृदय और आत्मा पर पड़ता है। उसके हृदय में संसार की अनित्यता और विलास तथा वैभव के क्षणिक एवं मिथ्या अस्तित्व का बोध उदय होता है और अपने भविष्य के संशोधित जीवन तथा इस लोक और परलोक पर वह सोचने लगता है। परमात्मा के प्रति सच्ची भक्ति तथा सद्भावनाओं, सद्विचारों, सत्कर्मों, परोपकार तथा दान-पुण्य आदि के प्रति श्रद्धा उत्पन्न होती है और वह वहीं उनका श्रीगणेश भी कर देता है। अपने पुराणों तथा प्राचीन इतिहास की महत्ता का सच्चा आभास उसे मिलता है। इसके अतिरिक्त जलवायु का परिवर्तन और नाना प्रकार के रंग-बिरंगे दृश्य, झरने, पर्वत, कन्दराएँ, जंगल, पशु-पक्षी आदि उसके स्वास्थ्य तथा मन पर अपना अमिट प्रभाव डालते हैं। ईश्वर की महत्ता एवं अपनी लघुता का भी वह अनुभव करता है तथा अपने और विराट् प्रकृति के अटूट सम्बन्ध को समझकर 'अहं ब्रह्मास्मि' महावाक्य का अर्थ समझ जाता है। ईश्वर की दी हुई आँखों का फल वह ईश्वर की कारीगरी और उसकी विचित्र लीला देखकर

पाता है। उसकी निरीक्षण शक्ति, प्रकृति के ज्ञान तथा विज्ञान की उपयोगिता की भावना में वृद्धि होती है।

देशप्रेम के नारे लगाकर हम बालकों तथा युवकों में राष्ट्रप्रेम के पुनीत भाव को भरना चाहते हैं। किन्तु जिस देश को उन्होंने देखा नहीं, समझा नहीं, जिसका वास्तविक स्वरूप ही उनके सामने नहीं है, उसके प्रति सच्चा प्रेम हो ही कैसे सकता है ? अतः इस बात की आवश्यकता है कि हमारे नवयुवकों को यात्रा करने के लिए प्रेरित किया जाय तथा देश के रमणीय प्राकृतिक दृश्यों एवं धार्मिक तथा ऐतिहासिक महत्त्व के स्थानों का सुन्दर वर्णन भी उनके सामने रखा जाय, जिसे पढ़कर उनके हृदय में उन स्थानों का परिचय पाने का उत्साह बढ़े। यह निर्विवाद सिद्ध है कि यात्रा राष्ट्रीय भावनाओं का भी उदय, पोषण तथा वर्धन करती है। जब यात्री कन्याकुमारी से काश्मीर तथा कामरूप से कच्छ तक उन्हीं समान सांस्कृतिक और धार्मिक भावनाओं का प्रकाशन जनजीवन में देखता है, तो मातृभूमि के प्रति वह समर्पित हो सर्वत्र एकत्व के सूत्र की अनुभूति करता है।

तीर्थयात्रा के अनन्त लाभ हैं। प्रदर्शनी की टीमटाम आदि अनेक उपायों तथा प्रभूत व्यय से जो उद्देश्य सिद्ध होता है, वह अनायास ही तीर्थस्थान तथा मेलों से हो जाता है। हमारे तीर्थस्थान प्रायः प्रकृति की केलिभूमि में स्थापित किये गये हैं। तीर्थयात्रा करने के बाद मनुष्य कूपमण्डूक नहीं रह जाता। तीर्थयात्रा के बिना जीवन नीरस, व्यर्थ, धर्मशून्य माना जाता है। जो व्यक्ति कभी यात्रा में गया नहीं, उसे विश्व की व्यापकता और उसके वैचित्र्य का अनुभव नहीं हो पाता, उसकी कूपमण्डूक वृत्ति उसे सबके सामने हास्यास्पद बना देती है।

कूपमण्डूक की कथा प्रसिद्ध है। स्वामी विवेकानन्द ने

शिकागो में हुए विश्व-धर्म-सम्मेलन में यह कथा सुनाकर सब श्रोताओं का मन मोह लिया था। एक कुएँ में बहुत समय से एक मेढक रहता था। वह वहीं पैदा हुआ था और वहीं उसका पालन-पोषण हुआ, पर फिर भी वह मेढक छोटा ही था। हाँ, आज के क्रमविकासवादी उस समय वहाँ न थे, जो यह बतलाते कि उस मेढक के आँखें थीं अथवा नहीं, पर यहाँ कहानी के लिए यह मान लेना चाहिए कि उसके आँखें थीं और वह प्रतिदिन ऐसे परिश्रम के साथ जल के क्षुद्र जन्तुओं और कीड़ों को खाकर जल को शुद्ध रखता था कि उतना परिश्रम हमारे आधुनिक कीटतत्त्ववादियों को यशस्वी बना दे ! खैर, इस प्रकार धीरे धीरे यह मेढक उसी कुएँ में रहते रहते मोटा-ताजा हो गया। होते होते एक दिन एक दूसरा मेढक जो समुद्र में रहता था, वहाँ आया और कुएँ में गिर पड़ा।

"तुम कहाँ से आये हो ?" – कूपमण्डूक ने पूछा।

"मैं समुद्र से आया हूँ।"

"समुद्र ! भला कितना बड़ा है वह ? क्या वह इतना ही बड़ा है जितना मेरा यह कुआँ ?" और यह कहते हुए उसने कुएँ में एक किनारे से दूसरे किनारे तक छलाँग मारी।

समुद्रवाले मेढक ने कहा, "मेरे मित्र, भला समुद्र की उपमा इस छोटे से कुएँ से किस प्रकार दे सकते हो ?"

तब उस कुएँ वाले मेंढक ने एक दूसरी छलाँग मारी और पूछा, "तो क्या इतना बड़ा ?"

समुद्रवाले मेढक ने कहा, "तुम कैसी बेवकूफी की बात कर रहे हो ! क्या समुद्र की तुलना तुम्हारे कुएँ से हो सकती है ?"

अब तो कुएँ वाले मेढक ने चिढ़कर कहा, "जा, जा ! मेरे कुएँ से बढ़कर और कुछ हो ही नहीं सकता। संसार में इससे बड़ा

और कुछ नहीं है ! झूठा कहीं का ! अरे, इसे कोई पकड़कर बाहर निकाल दो !"

भाइयो, ऐसा संकीर्ण भाव ही हमारे कलह का कारण है।

तो, यह थी कूपमण्डूक की कथा, जिसे सुनाकर स्वामी विवेकानन्द ने मानव-मन की संकीर्णता की व्याख्या की। देश-दर्शन के अभाव में मनुष्य की मनोवृत्ति ऐसी ही संकुचित हो जाती है। इसीलिए हमारी संस्कृति में तीर्थों की परिकल्पना की गयी, जिससे मनुष्य का मनोभाव फैले और वह उदार हो।

तीर्थ का एक लाभ और है। जब किसी विशिष्ट स्थान पर मनुष्य एकत्र हो एक ही प्रकार का चिन्तन करते हैं, तो उस चिन्तन का स्पन्दन तीव्र हो जाता है और अपना प्रभाव वातावरण में बिखेर देता है। जैसे, जिस स्थान पर मद्यपान किया जाता हो और जुआ खेला जाता हो, वहाँ उसी प्रकार के दुर्भाव तीव्र रहते हैं। एक सज्जन उस स्थान में कहीं जा पड़ा तो उसके मन में बलात् दुर्भाव उठने लगते हैं। उसी प्रकार, जब व्यक्ति तीर्थ में जाता है, तो उसका मन बिना किसी प्रयत्न तीर्थ में व्याप्त धर्म और सांस्कृतिक एकता के तीव्र स्पन्दनों से प्रभावित होकर उस ओर उन्मुख हो जाता है। यह तीर्थ का प्रत्यक्ष लाभ है। हजार वर्ष की गुलामी के बावजूद एक राष्ट्र के रूप में हमारे बचे रहने का सर्वाधिक श्रेय है हमारे तीर्थों को, जिन्होंने घोर विपत्ति के क्षणों में भी हमारी सांस्कृतिक पहचान को अमिट बनाये रखा है।

स्वामी विवेकानन्द के जीवन में शिवतत्त्व

स्वामी विदेहात्मानन्द

श्रीरामकृष्ण का कहना था कि जो व्यक्ति विष्णुतत्त्व की प्रधानता के साथ जन्म लेता है वह भक्त होता है और जो शिवतत्त्व की प्रधानता के साथ जन्म लेता है वह ज्ञानी होता है। स्वामी विवेकानन्द इस युग के परमज्ञानी धर्माचार्य थे और उनके जीवन चरित का विहंगावलोकन करने पर हम पाते हैं कि उनके जीवन का प्रारम्भ शिव से हुआ, युवावस्था में उन्हें शिव से ही कर्म की प्रेरणा मिली और अन्त में शिव के साक्षात्कार के साथ ही उनके जीवन का पटाक्षेप हुआ।

स्वामीजी के पिता विश्वनाथ दत्त कलकत्ते के एक सुप्रसिद्ध वकील थे। माता भुवनेश्वरी देवी को कई सन्तानें हुई, परन्तु उनमें से कइयों का शैशवकाल में ही निधन हो गया, बच रही थीं तो केवल पुत्रियाँ ही। पुत्र का मुख देखने की माँ के हृदय में विशेष लालसा होती है और भुवनेश्वरी देवी भी इस नियम का अपवाद न थीं। इसी कामना के साथ वे प्रतिदिन अपने आराध्य देवाधिदेव महादेव की पूजा, ध्यान, प्रार्थना, व्रत में निरत रहती थीं। फिर काशी में निवास करनेवाली अपने परिवार की एक वृद्धा को भी पत्र लिखकर उन्होंने वहाँ के वीरेश्वर शिव के मन्दिर में इस निमित्त पूजा, नैवेद्य, दान आदि की व्यवस्था करने का अनुरोध किया। तदनुसार वे वृद्ध महिला भी वाराणसी में शिव की अर्चना करने लगीं। क्रमश: भुवनेश्वरी देवी का मुखमण्डल एक दैवी आभा से उद्भासित हो उठा। उनकी तपस्या सार्थक हुई।

एक दिन उन्हें पुत्रप्राप्ति का पूर्वाभास भी मिला। उस दिन वे पूजा, प्रार्थना आदि से थककर रात में बिस्तर पर लेटी ही थीं कि सहसा उन्होंने देखा कि जटाजूटमण्डित, ज्योतिर्मय, तुषारधवल महादेव की मूर्ति उनके सामने आसीन है। देवाधिदेव महादेव ने

समाधि से व्युत्थित होकर एक नन्हें शिशु का रूप धारण कर लिया। उस रजतगिरि के समान सुकुमार शिशु का दर्शन करते हुए उनकी नींद खुल गयी। उनका मन एक अपूर्व आनन्द से परिपूर्ण था। वे सोचने लगीं कि यह मात्र एक स्वप्न था या फिर भावी का पूर्वाभास !

इस अलौकिक स्वप्न के कुछ महीनों बाद ही १२ जनवरी, १८६३ ई. मकर संक्रान्ति के दिन उन्हें पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई। वीरेश्वर शिव की आराधना के फलस्वरूप ही जन्म होने के कारण माँ ने इस शिशु को वीरेश्वर नाम दिया और दुलार में उसे बिले कहकर पुकारने लगी। स्कूल में नाम नरेन्द्रनाथ दत्त और परवर्ती काल में स्वामी विवेकानन्द के रूप में वे विश्वविख्यात हुए। परमहंस श्रीरामकृष्णदेव इन दिनों दक्षिणेश्वर की कालीबाड़ी में तपस्यारत थे। एक दिव्य-दर्शन में उन्होंने भी देखा कि आकाश के उत्तर-पश्चिम की ओर से एक उज्ज्वल ज्योति दिग्मण्डल को आलोकित करती हुई आकर कलकत्ता के सिमला मुहल्ले की ओर चली जा रही है।

सुन्दर, स्वस्थ, सबल और आनन्दमय बिले माँ की गोद की शोभा बढ़ाते हुए क्रमशः बड़ा होने लगा। किंचित् बड़े हो जाने के बाद बिले ने घर में शैतानी की धूम मचा दी। धमकी, प्रलोभन, डाँट-फटकार आदि कुछ भी काम नही आते थे, बल्कि इससे वह नाराज होकर घर की चीजें पटकने और तोड़ने लगता था। उसे सँभालने में अपने को असमर्थ पाकर माँ खेदपूर्वक कहती – "कितना सिर पटक-पटक कर मैंने शिवजी से एक पुत्र माँगा था और उन्होंने अपना एक दानव ही भेज दिया।" आखिरकार उन्होंने बिले को शान्त करने का एक अद्भुत उपाय ढूँढ निकाला। जब उसका क्रोध अनियंत्रित हो जाता तो माँ 'शिव' 'शिव' का जप करते हुए बिले के सिर पर पानी डालने लगतीं।

फिर कहती, "यदि तू शैतानी करेगा तो शिवजी तुझे फिर कैलाश में नहीं आने देंगे।" इससे वह बिल्कुल ही शान्त हो जाता था। उसके मन में यह विश्वास बैठ गया था कि वह शिवजी का एक दानव ही है, जिसे कुछ काल के लिए प्रताड़ित कर दिया गया है। और पुनः कैलाश जाने की लालसा में वह इस जगत का सब कुछ भूल जाता था।

थोड़ा और बढ़ने पर बिले रामायण की कथा में बड़ी रुचि लेने लगा और सीताराम की युगलमूर्ति की स्थापना कर पूजा, ध्यान आदि भी करने लगा। उनके सईस का दाम्पत्य जीवन बड़ा ही दुःखमय था और एक दिन उसने नरेन्द्र के समक्ष विवाह तथा उसके दुष्परिणामों का ऐसा भयावह चित्र प्रस्तुत किया कि बिले के लिए युगलमूर्ति की पूजा करना असम्भव हो उठा। कुछ निर्णय कर पाने में असमर्थ होकर उसे रुलाई आ गयी और वह अपनी समस्या के साथ माँ के पास जा पहुँचा। माँ ने उसे सहानुभूति जताते हुए कहा, "तो क्या हुआ ? तू शिव की पूजा कर न !" और बिले शिवजी की मूर्ति लाकर उनकी पूजा, अर्चना तथा ध्यान करने लगा। एक दिन वह गेरुए वस्त्र का एक टुकड़ा कौपीन की भाँति कमर में खोसकर घर में घूम रहा था। देखकर माँ ने कहा "यह क्या है रे ?" बिले ने जोर की आवाज में उल्लासपूर्वक कहा, "मैं शिव बन गया हूँ।"

छह साल की आयु में बिले अपने एक मित्र के साथ चड़क का मेला देखने गया। वहाँ से महादेव की मिट्टी की एक मूर्ति खरीदकर वह घर लौट रहा था। संध्या हो चुकी थी और उनका साथी पीछे पीछे आ रहा था। उसी समय सड़क पर एक घोड़ागाड़ी बड़ी तेज गति से आयी। जोरों की आवाज सुनकर बिले ने पीछे मुड़कर देखा। उसका साथी घोड़े के पाँवों तले आने ही वाला था। सड़क के दोनों ओर खड़े लोग बस चिल्ला रहे थे,

"गया, गया।" परन्तु कोई सहायता के लिए आगे नहीं आया। बिले ने क्षण भर में ही निर्णय कर लिया। उसने महादेव की प्रतिमा को बगल में दबाया और तेजी से दौड़कर मित्र का हाथ पकड़कर उसे किनारे खींच लिया। सभी लोग बिले की प्रशंसा में मुखर हो उठे। अपने भावी जीवन में बिले ने मानव की सेवा को भी सर्वदा शिव की पूजा का ही एक रूप माना।

युवावस्था में

विद्यालय में वे नरेन्द्रनाथ के रूप में परिचित हुए और पढ़ाई-लिखाई तथा संगीत के अभ्यास में लगे रहे। इस काल की उनकी शिव-उपासना का अधिक विवरण ज्ञात नहीं, परन्तु ध्यान की ओर उनका आकर्षण बचपन से ही लगातार बना रहा और प्रतिदिन रात में सोते समय भौंहों के बीच उन्हें दिव्य ज्योति का दर्शन हुआ करता था। अपनी युवावस्था में वे ब्रह्मसमाज नामक संस्था के सदस्य होकर निराकार उपासना में लग गये तथा मूर्तिपूजा को गलत मानने लगे। उनके मन में क्रमशः यह प्रश्न उठने लगा कि क्या वास्तव में ईश्वर का अस्तित्व है और क्या उनका साक्षात् भी किया जा सकता है? क्रमशः वे इस प्रश्न को लेकर दक्षिणेश्वर पहुँचे और इसका समाधान पाकर उनकी आस्था पुनः सनातन धर्म की ओर लौट आयी। उन्होंने शिव-शक्ति की सत्ता को स्वीकार कर लिया। श्रीरामकृष्ण ने एक बार बताया था कि जिस दिन उन्हें बोध हो जाएगा कि वे कौन हैं और कहाँ से आये हैं, तो फिर उनका शरीर नहीं रहेगा। जगत में अपने कार्य हेतु जगदम्बा ने उन्हें उनका वास्तविक स्वरूप भुला रखा था।

अपने गुरुदेव की महासमाधि के पश्चात् स्वामीजी कलकत्ते के ही वराहनगर अंचल में एक मठ बनाकर अपने गुरुभाइयों के साथ उसमें निवास करने लगे। वहाँ श्रीरामकृष्ण के अस्थि-अवशेष तथा पट की स्थापना कर उन लोगों ने एक

देवालय बनाया था। संध्या को आरती के समय वे लोग एक साथ मिलकर यह पद गाया करते थे –

जय शिव ओंकारा, भज शिव ओंकारा।
ब्रह्मा विष्णु सदाशिव, हर हर हर महादेव ॥

फिर १८८७ ई. के प्रारम्भ में स्वामीजी ने शिवजी पर एक भजन की रचना भी की थी, जो इस प्रकार है –

ताथैया ताथैया नाचे भोला, बम बब बाजे गाल।
डिमि डिमि डिमि डमरु बाजे, दुलिछे कपाल माल ॥
गरजे गंगा जटा माझे, उगरे अनल त्रिशुल राजे,
धक धक धक मौलिबन्ध, ज्वले शशांक भाल ॥

भजन को गाते समय स्वामीजी अपने गुरुभाइयों के साथ मिलकर नृत्य भी करते थे। मठ में अपने निवास कक्ष को उन लोगों ने 'दानवों का कमरा' नाम दे रखा था। इस प्रकार हम देखते है कि इन दिनों वे शिव के भाव से परिपूर्ण थे। उसी वर्ष मठ में मनायी गयी 'शिवरात्रि' का एक सुन्दर वृतान्त 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' ग्रंथ में इस प्रकार मिलता है –

"मठ के बिल्ववृक्ष के नीचे पूजा का आयोजन हो रहा है। रात के नौ बजे का समय होगा। अभी पहली पूजा होगी, साढ़े ग्यारह बजे दूसरी। चारों प्रहर में ...चार पूजाएँ होंगी। नरेन्द्र, राखाल, शरत्, काली, गोपाल आदि मठ के सब भाई ...खड़े होकर नृत्य, गीत करते हुए बिल्ववृक्ष की बारम्बार परिक्रमा करने लगे। बीच बीच में वे 'शिव गुरु' 'शिव गुरु' इस मंत्र का वे एक स्वर में उच्चारण कर रहे हैं। कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी है। रात्रि गम्भीर हो रही है। गैरिक वस्त्र पहने इन आकौमार विरागी भक्तों के कण्ठ से उच्चरित 'शिव गुरु' 'शिव गुरु' की महामंत्र-ध्वनि मेघ की तरह गम्भीर रव से आकाश में गूँजकर अखण्ड सच्चिदानन्द में लीन होने लगी। पूजा समाप्त हो गयी। उषा की लाली फैलने वाली है।

नरेन्द्र आदि भक्तों ने इस ब्राह्म मुहुर्त में गंगास्नान किया।''

कुछ वर्षों के मठ-जीवन के दौरान उन्होने कई बार वाराणसी तथा वैद्यनाथ धाम आदि स्थानों में जाकर तपस्या की। तत्पश्चात् वे परिव्राजक के रूप में पश्चिमी भारत की यात्रा पर निकले। उन दिनों रामेश्वरम पहुँचकर महादेव का दर्शन करना ही उन्होंने अपना लक्ष्य बना रखा था – ऐसा उनके कई पत्रों से ज्ञात होता है। कन्याकुमारी में ध्यान करते समय उन्हें अपनी भावी कार्ययोजना समझ में आयी। तदुपरान्त रामेश्वरम दर्शन करने के बाद वे रामनाथपुरम के राजा भास्कर सेतुपति से मिले, जिन्होंने स्वामीजी को शिकागो जाकर हिन्दू धर्म का प्रतिनिधित्व करने को प्रोत्साहित किया तथा उनके व्ययभार का भी कुछ अंश वहन करने का प्रस्ताव रखा।

११ सितम्बर १८९३ ई. को शिकागो धर्ममहासभा की बृहत् श्रोतृमण्डली के समक्ष हिन्दू धर्म का परिचय देते हुए स्वामीजी ने 'शिवमहिम्नस्तोत्र' से निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया – **रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिल नानापथजुषाम् । नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ।** – ''जैसे विभिन्न नदियाँ एक ही समुद्र में पहुँच जाती हैं, उसी प्रकार रुचिवैचित्र्य के अनुसार सीधे अथवा टेढ़े-मेढ़े मार्गों से आनेवाले सभी लोग, हे प्रभो, अन्ततः तुम्हीं में आकर मिल जाते हैं।'' इस श्लोक के माध्यम से स्वामीजी ने विश्ववासियों को समझाया कि हिन्दू लोग सभी धर्मों को सत्य तथा ईश्वर तक पहुँचने का एक एक पथ मानते हैं।

१८९७ ई. में अमेरिका से लौटकर जब वे पुनः रामेश्वर शिव का दर्शन करने आये तो वहाँ उपस्थित जनसमुदाय के आग्रह पर उन्होंने 'सच्ची पूजा' विषय पर एक संक्षिप्त सारगर्भित व्याख्यान दिया। तीर्थ का माहात्म्य समझाने के बाद स्वामीजी ने कहा, ''यदि कोई व्यक्ति केवल मूर्ति में ही शिवजी को देखता है

तो कहना होगा कि उसकी उपासना नितान्त प्रारम्भिक है, परन्तु यदि वह (मूर्ति के साथ ही) निर्धन, दुर्बल तथा रुग्ण लोगों में भी उन्हें देखता है तो उसी की उपासना सच्ची है और शिवजी उस पर प्रसन्न भी होते हैं। ...प्रत्येक हृदय में शिव का वास है, परन्तु उस पर एक आवरण सा पड़ा हुआ है। अभावग्रस्त लोगों की सेवा के द्वारा जब तुम्हारा चित्त शुद्ध हो जाएगा, तो शिवजी स्वयं ही प्रगट होंगे। जो व्यक्ति जितना ही निःस्वार्थ है, वह शिवजी के उतना ही समीप है।" स्वामीजी का उपरोक्त व्याख्यान रामेश्वरम के मन्दिर में संगमरमर के फलकों पर खुदवाकर स्थापित कर दिया गया है। 'शिव भाव से जीवसेवा' – यही स्वामीजी के सन्देश का केन्द्रबिन्दु है।

निवेदिता के संग हिमालय भ्रमण

स्वामीजी के कार्य में सहायता करने को उसी वर्ष मिस मार्गरिट नोबल इंग्लैण्ड से भारत आयीं। स्वामीजी के सान्निध्य में उनका भारतीय समाज, संस्कृति एवं धर्म पर गहन अध्ययन चलने लगा। भारत के लिए कार्य प्रारम्भ करने के पूर्व उनके लिए भारत की अन्तरात्मा का जानना अतीव आवश्यक था। स्वामीजी ने उन्हें वार्तालाप एवं भ्रमण के माध्यम से प्रशिक्षित किया। २५ मार्च को उन्होंने बेलुड़ मठ में एक अनुष्ठान किया जिसमें मिस नोबल को शिव पूजा सिखाई गयी और ब्रह्मचर्य दीक्षा के पश्चात् उनका नाम हुआ भगिनी निवेदिता। उस दिन स्वामीजी ने अपने कमरे में जाकर योगीश्वर शिव के समान ही जटा, विभूति तथा अस्थिकुण्डल धारण करके लगभग एक घण्टे तक भजन गाये थे।

कुछ दिनों बाद स्वामीजी उन्हें तथा कुछ अन्य शिष्यों को साथ लेकर उत्तरी भारत, हिमालय और विशेषकर अमरनाथ की यात्रा पर गये। हिमालय में स्वामीजी का मन शिवजी के भाव में विभोर रहा करता था। कभी कभी वे इन लोगों को हरगौरी के

मिलन विषयक शंकराचार्य के 'अर्धनारीश्वर स्तोत्र' का कुछ अंश सुनाकर उसका अनुवाद करते। एक दिन उन्होंने कहा, "जिसे भी जगत में कोई विशेष कार्य पूरा करना है, उसके साथ मैं उमा और महेश्वर के अतिरिक्त अन्य किसी भी देवी-देवता के बारे में बातें नहीं करता, क्योंकि महादेव तथा जगदम्बा से ही महान कर्मवीरों की उत्पत्ति होती है।

एक अन्य दिवस का विवरण देते हुए निवेदिता ने लिखा है – "महादेव के प्रति उनमें असीम प्रेम था और एक बार उन्होंने भारत की भावी नारियों के विषय में कहा था कि यदि वे अपने नये नये कर्तव्यों के दौरान बीच बीच में मन ही मन 'शिव' 'शिव' कहती रहें, तो वही उनके लिए यथेष्ट पूजा होगी।" स्वामीजी के लिए हिमालय की वायु तक उसी 'अनन्त ध्यान' की मूर्ति से ओतप्रोत थी, जो कभी सुख के भावों से विचलित नहीं हो सकती थी। उन्होंने बताया कि इसी ग्रीष्म ऋतु में उन्हें पहली बार उस भौगोलिक कथा का तात्पर्य समझ में आया, जिसमें गंगा के महादेव के मस्तक पर गिरकर मैदानी अंचल में उतरने के पूर्व उनकी जटाओं में इधर उधर संचरण करने का उल्लेख है। वे काफी दिनों से जानने को उत्सुक थे कि पर्वतों से होकर बहनेवाली नदियों तथा जलप्रपातों से कैसी ध्वनि निकलती है और आखिरकार उन्होंने पाया कि वह 'हर हर बम बम' की वही चिरध्वनि थी। शिव के प्रसंग में एक दिन उन्होंने कहा, 'महादेव शान्त, सुन्दर तथा मौन हैं और मैं उनका एक परम भक्त हूँ।' ...और एक दिन अरुणोदय के समय जब आलोकरजित हिमश्रेणियाँ दृष्टिगोचर हो रही थीं, तब स्वामीजी ने शिव तथा उमा विषयक सुदीर्घ वार्तालाप आरम्भ करते हुए कहा, 'वह जो ऊपर की ओर श्वेतकाय हिममण्डित पर्वत-श्रेणियाँ दीख रही हैं, वे ही शिव हैं और उनके उपर जो आलोक पड़ रहा है, वे ही

जगदम्बा हैं' ।'' इस प्रकार हम देखते हैं कि सम्पूर्ण हिमालय ही स्वामीजी के लिए मानो महादेव की एक जीवन्त प्रतिमा थी ।

अमरनाथ के सान्निध्य में

इसके बाद अब हम उन्हें काश्मीर के मार्ग पर बढ़ते देखते है । बीच बीच में वे हिमालय के सौंदर्य पर अभिभूत हो जाते । एक दिन उन्होंने गम्भीरतापूर्वक कहा, "इस पर्वतमाला के सम्मुख साष्टांग होना और एक प्रतिमा के सम्मुख साष्टांग प्रणाम करना, क्या एक ही बात नहीं है ?'' स्वामीजी ने निवेदिता को भी अपने साथ अमरनाथ जाकर महादेव के चरणों में समर्पित होने का आमंत्रण दिया था । मार्ग में वे एक ही समय भोजन करते, यथारीति स्नानादि करते, काफी समय जप में बिताते और कभी सच्चर्चा करते तो कभी मौन रहते । कई दिनों की काफी कठिन चढ़ाई-उतराई को पार करते हुए आखिरकार वे लोग अपने लक्ष्य के निकट जा पहुँचे । स्नान के पश्चात् स्वामीजी ने कौपीन मात्र धारण किया और शरीर को भस्म से आच्छादित कर ठण्ड से ठिठुरते हुए गुहा में प्रवेश किया, जो महादेव की स्तुति एवं 'हर हर बम बम' के निनाद से गुंजरित हो रहा था । भावविह्वल चित्त के साथ उन्होंने कई बार हिमलिंग के सम्मुख प्रणाम किया और कुछ मिनटों तक खड़े खड़े ही ध्यान में डूबे रहने के बाद वे गुहा से बाहर निकल आये ।

बाद में उन्होंने बताया कि उनके लिए वहाँ मानो स्वर्ग के द्वार उघड़ गये थे । कहीं भावावेश में मूर्छित न हो जायँ, इस भय से उन्होंने अपने आपको बड़ी कठिनाई से सँभाला था । वे बोले, "मैंने बड़े आनन्द का उपभोग किया । मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा था कि हिमलिंग साक्षात् शिव ही है । वहाँ केवल निरविच्छिन्न पूजा का ही भाव था । सामान्यतः वे इस अनुभूति का प्रसंग टाल जाते थे, तथापि यदा-कदा उन्होंने बताया था कि वह

चित्तविह्वलकारी दर्शन मानो उन्हें घूर्णावर्त के समान खींच रहा था। उस समय उनकी देह इतनी थक गयी थी कि बाद में एक डॉक्टर ने बताया कि तब उनकी हृदय-गति रुक जाने की सम्भावना थी, तथापि उनका हृदय सदा के लिए आकार में बढ़ गया था। वे बताते थे कि अमरनाथ से उन्हें इच्छा-मृत्यु का वर मिला है। इस दर्शन का प्रभाव उन पर इतना गम्भीर हुआ था कि वे उन दिनों वे सर्वदा शिवजी के भाव में ही विभोर रहते तथा उनके मुख से उन्हीं की महिमा-गान होती रहती। उस दिन श्रीरामकृष्ण की यह भविष्यवाणी सफल होते होते रह गयी थी, "जिस दिन वह अपने को जान लेगा, उस दिन वह अपना शरीर त्याग देगा।" और साथ ही बचपन से चली आ रही यह भविष्यवाणी भी कट गयी कि पहाड़ों के बीच किसी शिव मन्दिर में उनका देहान्त होगा।

स्वामीजी के जीवन-बाण की उड़ान अब समाप्तप्राय थी, तथापि वे पुनः अमेरिका गये तथा लौटते समय पेरिस में आयोजित 'धर्मेतिहास सभा' में भाग लिया। ७ सितम्बर (१९००) के एक सत्र में ओपर्ट नामक जर्मन विद्वान ने शिवलिंग से सम्बन्धित एक विकृत व्याख्या उपस्थित की। स्वामीजी ने उक्त मत का खण्डन करते हुए बताया कि शिवलिंग-उपासना का मूल उद्‌गम अथर्ववेद संहिता के 'यूप स्तम्भ' सम्बन्धी प्रसिद्ध स्तोत्र मे हुआ है। उन्होंने कहा, "जिस प्रकार यज्ञ की अग्निशिखा, धूम, भस्म, सोमलता तथा यज्ञकाष्ठ के वाहक वृष की परिणति महादेव की अंगकान्ति, पिंगल जटा, नीलकण्ठ तथा वाहनादि में हुई है; उसी प्रकार यूप-स्कम्भ (या स्तम्भ) भी श्री शंकर में विलीन होकर महिमान्वित हुआ है। ...लिंगादि पुराणों में इसी स्तोत्र का कथानक के रूप में वर्णन करके महास्तम्भ तथा श्री शंकर के माहात्म्य की व्याख्या हुई है।"

पाश्चात्य देशों से लौटने के बाद फरवरी १९०२ ई. में स्वामीजी ने अन्तिम बार वाराणसी की यात्रा की। वहाँ प्रतिदिन वे विश्वनाथ तथा अन्नपूर्णा के दर्शन को जाया करते थे। एक दिन वहाँ के केदारनाथ मन्दिर के वृद्ध महन्तजी स्वामीजी से मिलने आए। महन्तजी ने कहा, "पाश्चात्य लोगों के सम्मुख आपने जिस प्रकार हिन्दू धर्म के गौरव में सैकड़ोंगुनी वृद्धि की है ... और वैदिक धर्म के गूढ़ रहस्यों की अनुभूति कर उसकी सुचारु व्याख्या की है उससे हम संन्यासीगण तथा सम्पूर्ण हिन्दू समाज आपके चिर कृतज्ञ रहेंगे।" उन्होंने स्वामीजी से यह आग्रह भी किया कि एक दिन वे अपनी टोली के साथ केदार मठ में आकर भिक्षा ग्रहण करें। अगले दिन स्वामीजी मठ में उपस्थित हुए। महन्तजी ने उन्हें मठ के सभी महत्वपूर्ण भागों का परिदर्शन कराया तथा भोजन-वस्त्र से उनकी सेवा की। स्वामीजी के आगमन के उपलक्ष्य में केदारजी की विशेष आरती उतारी गयी। मन्दिर के द्वार से गर्भगृह में प्रवेश करते ही स्वामीजी निश्चल, निस्पन्द तथा संज्ञाशून्य हो गये। काफी समय तक वे भावतन्मय तथा ध्यानमग्न रहे। अर्धबाह्य अवस्था में ही उन्हें मन्दिर से बाहर लाकर गाड़ी में आसीन कराया गया। और इस प्रकार वे अपने निवास स्थान पर वापस लौटे।

स्वामीजी ने छह श्लोकों में एक अत्यन्त मनोरम 'शिवस्तोत्र' की रचना की है। शिव के भजन उन्हें अत्यन्त प्रिय थे। उन्हीं के द्वारा रचित एक शिव-संगीत के साथ हम इस प्रबन्ध का उपसंहार करते हैं –

हर हर हर भूतनाथ पशुपति
योगेश्वर महादेव, शिव पिनाकपाणि।
उर्ध्व ज्वलत जटा-जाल, नाचत व्योमकेश भाल,
सप्तभुवन धरत ताल, टलमल अवनी॥

सन्ताग्रगण्य ज्ञानेश्वर महाराज

श्री मनोहरराव देव

महाराष्ट्र में प्रचलित भक्तिमार्ग भागवत-धर्म के नाम से सुपरिचित है। श्री ज्ञानेश्वर महाराज इसके आद्य-प्रवर्तक माने जाते हैं। पण्ढरपुर के श्री विठ्ठल भागवत परम्परा के आद्य देवता है। उनकी पूजा-अर्चना की शुरुआत शक संवत ११९५-९६ से हुई। ऐतिहासिक साक्ष्यों से पता चलता है कि दक्षिण में स्थित विजयनगर के भूपति रामदेव राय तथा उनके प्रधान हेमाद्रि[१] ने इस देवता के पूजन में तन-मन-धन से योग दिया था।

पण्ढरपुर नगरी दक्षिण द्वारावती नाम से भी विख्यात है। वहाँ के अधिष्ठातृ देवता भगवान पाण्डुरंग श्रीकृष्ण के ही एक रूप हैं। इनका विठ्ठल नाम क्यों पड़ा ? इस विषय में महाराष्ट्र के सुप्रसिद्ध भक्तकवि विठोबा अण्णा ने एक बड़ी सुन्दर व्याख्या दी है। विठ्ठल शब्द की व्युत्पत्ति बताते हुए वे लिखते हैं - "विदा (ज्ञानेन) ठान् (लठ्ठान- अज्ञजनान्) लाति (गृह्णाति- स्वीकरोति) सः विठ्ठलः"- जो अज्ञानी लोगों को (भक्ति - प्रेम से) ज्ञानी बनाकर स्वीकार करते हैं वे विठ्ठल हैं। भक्तों ने प्रीतिपूर्वक इसी को 'विठोबा' कर दिया और उनके बीच 'श्री कृष्ण- रुक्मिणी' के स्थान पर 'विठोबा- रखमाई' का दुलारा नाम प्रचलित हो गया।

श्री ज्ञानेश्वर महाराष्ट्रीय विठ्ठल- सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य हुए। ब्रह्मरूप विदेही योगी होकर भी वे एक भक्त के रूप में ही अधिक विख्यात हैं। गीता की ज्ञानेश्वरी व्याख्या और वेदान्त पर अमृतानुभव तथा चागदेवपासष्टी नामक अपूर्व ग्रन्थों के रचयिता होकर भी वे ज्ञानोत्तर भक्ति के आचार्य थे और उनके भक्तिरसपूर्ण पद आज भी महाराष्ट्र में सर्वत्र सभाव गाये जाते हैं। इस भावुकतापूर्ण लगाव के कारण ही उन्हें 'माउली' (माता) की आख्या भी मिली हैं।

---

१ ये 'चतुर्वर्ग- चिन्तामणि' नामक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ के रचयिता भी थे।

पिता विठ्ठलपन्त

श्री ज्ञानेश्वर महाराज के पिता विठ्ठलपन्त के पूर्वज पैठण (प्रतिष्ठानपुरी) से आठ मील दूर स्थित आपेगाँव के निवासी थे। उन्हें कुलों से कर वसूल करनेवाले अधिकारी अर्थात कुलकर्ण की वृत्ति प्राप्त थी। यो लोग माध्यन्दिन शाखा के यजुर्वेदी देशस्थ ब्राह्मण तथा वेदशास्त्र में पारंगत थे। देवगढ़ के जाधव राजाओं ने उनके पितामह को अग्रहार (जमींदारी का दानपत्र) भी दिया था। इस प्रकार उनके कुल में सम्पन्नता थी, वैदिक परम्परा थी और राजपत्रित अधिकार भी था। ऐसे सद्वंश में ज्ञानदेव के पिता विठ्ठलपन्त का जन्म हुआ। कहते हैं कि श्री गोरक्षनाथ के शिष्य गहनीनाथ ने इनके माता-पिता को प्रसाद के रूप में विभूति दी थी और तदुपरान्त ही गर्भधारण सम्भव हुआ था। वे बाल्यकाल से ही अत्यन्त वैराग्यवान थे। परन्तु यह अन्धवैराग्य नहीं, अपितु ज्ञानचक्षु प्रसूत विवेक के फलस्वरूप हुआ वैराग्य था। विठ्ठलपन्त ने पैठण में स्थित अपने मातुल-गृह में रहकर वेद, काव्य तथा व्याकरण का अध्ययन किया। शिक्षा पूरी हो जाने पर वे तीर्थाटन को निकल पड़े।

तीर्थदर्शन और विवाह

निरन्तर हरि का स्मरण करते हुए विठ्ठलपन्त ने द्वारका, पिण्डारक, सुदामापुरी (पोरबन्दर) तथा भगवान श्रीकृष्ण के जीवन से जुड़े समस्त तीर्थों का दर्शन किया। फिर प्रभास, सोरटी सोमनाथ, सप्तश्रृंगी कुशावर्त आदि स्थानों का भ्रमण करते हुए वे इन्द्रायणी नदी के निकट आलन्दी ग्राम पहुँचे। ईश्वर-दर्शन से उनके अन्तःकरण में भक्ति के साथ विवेकयुक्त वैराग्य भी प्रखर हुआ। अब वे आलन्दी के सिद्धेश्वर मन्दिर में निवास करने लगे। सिद्धोपन्त नामक सदाचारी तथा ज्ञानसम्पन्न एक व्यक्ति आलन्दी ग्राम के प्रधान थे। उनके रुक्मिणी नाम की एक वयःप्राप्ता कन्या थी। सिद्धोपन्त अपनी इकलौती कन्या के लिए एक सुयोग्य वर की तलाश में थे। वे एक

विद्वान सद्‌गुणसम्पन्न तथा भगवद्भक्त दामाद के अभिलाषी थे। विठ्ठलपन्त जिस मन्दिर में ठहरे हुए थे, सिद्धोपन्त भी वहाँ दर्शन करने जाया करते थे। विठ्ठलपन्त के सदाचारयुक्त जीवन तथा भक्तिभाव ने उनका मन मोह लिया। जैसे जामाता की खोज में वे थे, वह मानो मूर्तिमन्त होकर भगवदिच्छा से उनके सम्मुख आ गया था। उन्होंने परीक्षा लेने के निमित्त इस यात्री को अपने घर निमन्त्रित कर पन्द्रह दिनों तक अपने पास रखा। सिद्धोपन्त एक अधिकारी पुरुष थे। उन्हें भगवान का आदेश मिला – अपनी सर्वगुण-सम्पन्न कन्या इसी युवक को समर्पित करो। मेरे ही अंश से इनकी दिव्य सन्तान अवतरित होकर लोकोद्धार का दैवी कार्य सम्पन्न करेगी। उन्होंने विठ्ठलपन्त के साथ इस विषय पर चर्चा की। विठ्ठलपन्त ने हँसते हुए उत्तर दिया, "मैं तो तीर्थदर्शन तथा सन्तदर्शन की कामना के साथ घर से निकला हूँ। अभी तो रामेश्वर तक पैदल यात्रा का मेरा संकल्प है। और विवाह करने की आज्ञा तो मुझे अभी तक प्राप्त नहीं हुई है।" यह सुनकर सिद्धोपन्त निश्चिन्त हो गए।

विठ्ठलपन्त उस रात जिस तुलसी-वृन्दावन के पास सोए थे, वहीं स्वप्न में उन्हें भगवान विठ्ठल का दर्शन हुआ और आदेश मिला – "इस वधु को स्वीकार करो। इसी के गर्भ से मेरा अंश अवतीर्ण होने वाला है।" विठ्ठलपन्त ने सहज भाव से अपने भावी श्वसुर को अपने इस स्वप्न में साक्षात्कार की बात कही। गुणमेलन पत्रिका में ३६ गुण मिल गए। विवाह का केवल एक ही मुहुर्त बचा था। आपेगाँव से उनके माता-पिता को लाने का समय भी नहीं बचा था। इस प्रकार विठ्ठल के आदेश से यह विवाह सम्पन्न हुआ। दामाद के सद्‌गुण देखकर सिद्धोपन्त स्वयं को कृतार्थ मानने लगे।

विठ्ठलपन्त ने अपनी सहधर्मिणी के साथ पण्ढरपुर जाकर श्री पाण्डुरग का दर्शन किया। तत्पश्चात वे अपने पूर्व-संकल्प के

अनुसार दक्षिण की यात्रा पर चल पड़े और कृष्णा-कावेरी में स्नान करते तथा रामेश्वर, कांची, गोकर्ण, कोल्हापुर, कराड़ आदि स्थानों को होते हुए आलन्दी लौट आए। इस यात्रा के दौरान अपनी पत्नी को उन्होंने मायके में ही छोड़ दिया था। आलन्दी से वे अपने माता-पिता के दर्शनार्थ आपेगाँव की ओर चले। इधर सिद्धोपन्त भी अपनी कन्या को साथ लेकर समधी से मिलने निकल पड़े थे। दीर्घकाल के उपरान्त अपने प्रिय पुत्र तथा उसकी गुणवती पत्नी से मिलकर माता-पिता अतीव आनन्दित हुए। पुत्र एवं बहू के सान्निध्य में सुखपूर्वक कुछ काल व्यतीत करने के पश्चात वृद्ध गोविन्दपन्त तथा माता निराबाई ने परलोक गमन किया। विठ्ठलपन्त की गृहस्थी विरक्ति का एक आदर्श था। नित्यप्रति हरि-भजन में लगे रहने के फलस्वरूप उनके मन से बाह्य वृत्तियों का लोप हो गया था और गृहस्थी का सारा बोझ अकेली रुक्मिणी बाई पर ही आ पड़ा, अतः उन्होंने अपने पिता सिद्धोपन्त को कुछ दिनों के लिए आपेगाँव आकर रहने का अनुरोध करते हुए सन्देश भेजा। सिद्धोपन्त कन्या की इच्छानुसार आपेगाँव में आकर रहने लगे। कुछ समय बीत जाने पर भी जब विठ्ठलपन्त को पुत्रोत्पत्ति का कोई लक्षण नहीं दीख पड़ा, तो वे और भी विरक्त हो गए और अपनी पत्नी से काशी जाकर संन्यास लेने की अनुमति माँगने लगे। सन्तति के बिना संन्यास-धर्म अपूर्ण रहता है, यह बात सिद्धोपन्त को भी ज्ञात थी। एक दिन विठ्ठलपन्त ने सहज भाव से गंगास्नान को जाने की अनुमति माँगी। रुक्मिणी बाई ने चिढ़कर कहा, "जाना है तो जाओ।" काकतालीय न्याय इसी को पत्नी की सहमति मानकर विठ्ठलपन्त ने काशी क्षेत्र की ओर प्रस्थान किया।

संन्यास-दीक्षा

पिंजरे में बद्ध पंछी मुक्ताकाश में विचरण करते हुए जैसे आनन्दविभोर हो जाता है, विठ्ठलपन्त की भी काशी पहुँचकर वैसी

ही अवस्था हुई है। स्वामी रामानन्द काशी के विख्यात सन्त थे और भगवद्भक्त कबीर उन्हीं के शिष्य थे। उनसे भेंट होने पर विट्ठलपन्त ने बताया, "मैं दारापुत्रहीन हूँ और संन्यास-ग्रहण की इच्छा से आपकी शरण में आया हूँ।" रामानन्दजी ने उनका प्रखर वैराग्य देखा और सुयोग्य पात्र समझकर उन्हें संन्यास-दीक्षा दी। संन्यास के उपरान्त उनका नाम चैतन्याश्रम हुआ।

विट्ठलपन्त के संन्यास की वार्ता क्रमशः रुक्मिणी बाई तक जा पहुँची। अपनी गृहस्थी का यहीं अन्त समझकर उक्त साध्वी ने अपना शेष जीवन तपश्चर्या द्वारा कृतार्थ करने का निश्चय किया। अगले बारह वर्ष इन पतिव्रता ने कठोर तपस्या की। यद्यपि उन्होंने यह व्रताचरण निष्काम भाव से किया था, परन्तु भगवान ने उनकी साधना से सन्तुष्ट होकर उनकी अभिलाषा पूरी की।

संयोगवश उन्हीं दिनों स्वामी रामानन्द अपने अनेक शिष्यों के साथ रामेश्वर की यात्रा पर निकले। मार्ग में उनका डेरा आलंदी में भी पड़ा और वे बलभीम के मन्दिर में ठहरे। रुक्मिणी बाई अपने नित्यक्रम के अनुसार वहाँ देवदर्शन को आईं। यतिवर को देखकर उन्होंने उनका साष्टांग अभिवादन किया और इसके साथ ही उनके मुख से 'पुत्रवती भव' का आर्शीवचन निकल पड़ा। रुक्मिणी बाई यह सुनकर हँस पड़ीं। यतिवर द्वारा इसका कारण पूछने पर रुक्मिणी बाई ने कहा, "मेरे स्वामी तो काशी जाकर संन्यासी हो गये हैं, तो फिर पुत्रप्राप्ति कहाँ से होगी ? आपका आशीर्वाद कैसे सार्थक होगा ?"

रामानन्दजी ने उनके पति का रंगरूप तथा अंगलक्षण आदि पूछा और समझ गये कि ये चैतन्याश्रम की ही पत्नी हैं। जो कोई अपनी युवा पत्नी को असहाय छोड़कर संन्यास ग्रहण करता है, शास्त्र में उसे तथा उसके गुरु को भी दण्डनीय माना गया है। यतिराज गहरी चिन्ता में डूब गये। उन्होंने रामेश्वर जाने का अपना संकल्प वहीं छोड़, सिद्धोपन्त तथा रुक्मिणी बाई को साथ लिए काशी लौट

गए। वहाँ पहुँचकर सिद्धोपन्त एवं रुक्मिणी बाई के निवास की व्यवस्था करने के पश्चात वे अपने मठ में गए। स्वामीजी को अचानक वापस आये देखकर चैतन्याश्रम को विस्मय हुआ। यतिवर ने उनसे उग्र स्वर में पूछा, "चैतन्य, मैं आलन्दी से लौट आया हूँ। अब तू अपनी सच्ची कहानी बता।" आलंदी का नाम सुनते ही चैतन्य भय से काँपने लगे। उन्होंने यतिवर के चरण पकड़कर सच्ची बातें कह सुनाईं।

स्वामी रामानन्दजी बड़े दयालु थे। उन्होंने अपने प्रिय शिष्य को क्षमादान करते हुए आज्ञा दी – पुनः गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके स्वपत्नी को स्वीकार करो। गुरु की आज्ञा का स्थान शास्त्र से भी ऊँचा है। विठ्ठलपन्त अपनी भार्या तथा श्वसुर के साथ वापस आलन्दी औट गए। उनका संन्यास त्यागकर पुनः गृहस्थाश्रम वरण करना सर्वत्र एक चर्चा का विषय हो गया। तथाकथित ब्राह्मणसमाज तथा पंचायत के लोगों ने विठ्ठलपन्त को विषय-लम्पट, आश्रमद्रोही तथा अधर्माचारी घोषित कर दिया। विठ्ठलपन्त को निरन्तर लोकनिन्दा सहनी पड़ती थी और साथ ही साध्वी रुक्मिणी को भी इस ज्वलन्त अग्नि के ताप से गुजरना पड़ रहा था। 'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्' तथा 'निर्ममो निरहंकारः समदुःख सुखक्षमी'- इन गीतोक्त वचनों की प्रतिमूर्ति विठ्ठलपन्त सब कुछ धैर्यपूर्वक सह लेते थे। कालान्तर में उपरोक्त आशीर्वचन के अनुसार इस दम्पति को तीन पुत्र तथा एक कन्या की प्राप्ति हुई ।

१. निवृत्तिनाथ - शक संवत ११९५, माघ वद्य १
२ ज्ञानदेव - —"— ११९७, श्रावण वद्य ८
३. सोपानदेव - —"— ११९९, कार्तिक शुद्ध १५
४. मुक्ताबाई - —"— १२०१, आश्विन शुद्ध १

विठ्ठलपन्त का उत्पीड़न

संन्यासाश्रम को छोड़कर गृहस्थाश्रम प्रवेश और उस पर भी सन्तानों का जन्म ! धर्माचार्यों तथा ब्राह्मण्य रक्षकों के तत्कालीन परम्परावादी समाज को ये बातें क्या सहन हो सकती थीं ? शारीरिक दण्ड देने में अक्षम होकर उक्त समाज ने बहिष्कार का आश्रय लिया। इस अधर्मी दम्पति को जाति से निकाल दिया गया। कुएँ के पानी से वंचित करना, नित्य निन्दा-उपहास आदि कुटिल उपायों से अपना पौरुष तथा धर्मानुराग दिखाना उस समाज के लिए महान पुण्यकर्म था। परन्तु भगवदिच्छा से जन्मे उन देवतातुल्य बालकों ने अपने माता-पिता के साथ इस उत्पीड़न को बड़े साहसपूर्वक झेला। तितिक्षा उनका सहज स्वभाव था और ज्ञान तो उनमें जन्मजात था। जहाँ गाम्भीर्य, प्रगल्भता एवं वैराग्य का त्रिवेणी-संगम हो, वहाँ लोकनिन्दा तथा उपहास रूप पाप भला कहाँ टिक सकते हैं ? माता-पिता जहाँ एक ओर अपने ज्ञानसम्पन्न एवं परमार्थप्रिय बालकों को देखकर सन्तुष्ट होते, वहीं दूसरी ओर अपने निष्कलुष बच्चों के सिर पर सदा-सर्वदा के लिए बहिष्कार का प्रभावी शस्त्र लटकते देख दुखी भी होते।

निवृत्तिनाथ सात वर्ष के हो गए। अब उनका उपनयन संस्कार कैसे हो ? धर्मशास्त्र के अनुसार संन्यासी की सन्तान उपनीत नहीं हो सकती। विठ्ठलपन्त ने धर्माचार्यों को मनाने का प्रयास किया, परन्तु कठोर-हृदय ब्राह्मणों नें उनका तिरस्कार ही किया। निराश होकर विठ्ठलपन्त अपने स्त्री-पुत्रों के साथ त्र्यम्बकेश्वर गये। वहाँ पति-पत्नी दोनों घोर अनुष्ठान में लग गये। अशरणशरण महादेव शिव के सिवा उन्हें और किसका आश्रय मिल सकता था। इसी प्रकार छह महीने व्यतीत हुए।

निवृत्तिनाथ को गुरुप्राप्ति

एक बार कुशावर्त तीर्थ की परिक्रमा करते समय विठ्ठलपन्त एक भयानक व्याघ्र के सम्मुखीन हुए। वे घबराकर अपने बाल-बच्चों को सँभालने में व्यस्त हो गए और इसी भागदौड़ में निवृत्तिनाथ मार्ग भूलकर अँधेरे में कहीं खो गए। उन्होंने अंजनी पर्वत की एक गुफा में शरण ली। वहाँ से उन्हें एक सिद्धाश्रम दिखाई दिया, जिसमें एक योगी बैठे हुए थे। ये महासिद्ध गहनीनाथ थे। उनके मुखमण्डल पर दिव्य तेज, मस्तक पर जटाजूट, कानों में कुण्डल, कण्ठ में थैली और हाथ में सिंगी शोभायमान हो रहा था। उसके मुख से अनवरत 'ॐ नमः शिवाय' उच्चरित हो रहा था। निवृत्तिनाथ उनके आसन के समीप जाकर चरणों में लोट गए। गहनीनाथ ने इस अबोध दिव्य बालक की ओर निहारा और उसे अधिकारी समझकर ब्रह्मबोध प्रदान किया। निवृत्तिनाथ निरन्तर सात दिनों तक अपने गुरुदेव के साथ रहे। योगमार्ग में दीक्षित होकर उन्हें महावाक्य की अनुभूति हो गई। तत्पश्चात् गहनीनाथ ने उन्हें श्रीकृष्णोपासना का उपदेश देकर नाम-साधना के प्रचार का आदेश दिया।

निवृत्तिनाथ योग में आरूढ़ होकर अपने माता-पिता के पास लौट आए। उन्होंने अपने कनिष्ठ भाई ज्ञानदेव को उपदेश दिया। ज्ञानेश्वर पहले से ही योगमार्गी थे। अब वे अपने सिद्ध ज्येष्ठ भ्राता का अनुग्रह पाकर पूर्णप्रज्ञ हो गए। आदिनाथ, मत्स्येन्द्र, गोरक्ष, गहनी, निवृत्ति और ज्ञान – नाथ सम्प्रदाय की इस उज्ज्वल परम्परा में उनका भी समावेश हो गया। यह सम्प्रदाय गुरु को सर्वोच्च पदवी देता है। गहनीनाथ कहते हैं -

गोरखसुत गहनी कहे, नाथपन्थ की बानी।
ग्यानी जानत गुरुपुत, सोहि चढ़े निरबानी॥

विठ्ठलपन्त का परलोक-गमन

ब्रह्मवृन्द द्वारा उत्पीड़ित होने के बावजूद विठ्ठलपन्त ने सर्वदा उनके प्रति सम्मान ही दिखाया था। 'पुनन्तु मां ब्राह्मणपाद पासवः' – यही उनका भाव था। उन्हें विदित था कि उनके पुत्र अलौकिक हैं। तथापि शास्त्रमर्यादा एवं परम्परा के अनुरूप उनका संस्कार होना भी आवश्यक था। एक दिन ब्रह्मवृन्द ने उन्हें बुलाया और अपने निर्णय से अवगत करा दिया, "तुम्हारे अपराध का शास्त्र में कोई प्रायश्चित नहीं – देहत्याग ही एकमात्र उपाय है। और तुम्हारे पुत्रों का उपनयन नहीं हो सकेगा।"

विठ्ठलपन्त ने इस निर्णय को शिरोधार्य किया। मन में दृढ़ संकल्प करके पति-पत्नी दोनों ने पुत्रों को भगवान के भरोसे छोड़ प्रयागक्षेत्र में जाकर गंगा में देह विसर्जित कर दिया। गुरु की आज्ञानुसार उन्होंने संन्यास छोड़ा था। इसमें उनका कोई दोष न था, परन्तु दयाशून्य ब्रह्मवृन्द के निर्णय को मानकर उन्होंने आत्मबलिदान कर दिया था। ज्ञानदेव के समान महान सन्त को जन्म देनेवाले माता-पिता ऐसा अलौकिक आचरण करें – इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं।

ज्ञानदेव का निर्णय

वस्तुत: इन तीनों भाइयों को विधिवत उपनयन संस्कार कराने की आवश्यकता न थी। वे साक्षात् शिवस्वरूप हो चुके थे। "मैं ब्राह्मण हूँ और मैंने संस्कार ग्रहण किया है" – ऐसी भावना जाति-धर्म-कुल के अभिमान से उत्पन्न होती है। ज्ञानयोग के चरम सोपान की उपलब्धि के बाद ये विधि-विधान निरर्थक हो जाते हैं। आचार्य का कथन है – "विज्ञातेच परे तत्त्वे शास्त्राधीतिस्तु निष्फला।" तथापि वर्णाश्रमधर्म तथा लोकव्यवहार की मर्यादा को अक्षुण्ण रखने के हेतु महापुरुषगण शास्त्र के सिद्धान्तों का उल्लंघन

करना उचित नहीं समझते – "यद्यपि शुद्धं लोकविरुद्धं नाकरणीयं नाचरणीयम्" तथा "तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्य व्यवस्थितो।" अतएव इन आदर्शों का पालन करने को ये बालयोगी कटिबद्ध थे। इसीलिए ब्राह्मणों तथा पीठाधीश की अवहेलना उन्हें उचित नहीं लगी। जब निवृत्तिनाथ ने यह तर्क उपस्थित किया – "हम लोग वर्ण-जाति-कुल के परे हैं और नित्य निजरूपानन्द में निमग्न होकर सच्चिदानन्द में रमण करते हैं, तो फिर हमें इन लौकिक आचारों से क्या प्रयोजन है ?" इस पर ज्ञानदेव का विचार बड़ा ही मार्मिक था। उन्होंने कहा – "मैं मानता हूँ कि वेदविरुद्ध सम्पर्क का स्वस्वरूप से कोई सम्बन्ध नहीं, परन्तु वेदविहित आचार का पालन न करना भी परम गर्हित है।" सन्तों को चाहिए कि वे अपने आचरण के द्वारा सामान्य जन का उत्थान करें, अन्यथा लोगों की अधोगामी प्रवृत्तियाँ अधर्माचरण की ओर उन्मुख हो जाएँगी।"

यह विचार निवृत्तिनाथ को भी जँच गया और तीनों भाई अपने ब्राह्मणत्व का प्रमाणपत्र पाने के लिए प्रतिष्ठान (पैठण) नगरी के प्रधान पीठाधीश्वर से मिलने पैदल ही चल दिए।

प्रतिष्ठानपुरी में चर्चा

प्रतिष्ठान पहुँचकर ज्ञानदेव ने वहाँ के पीठाधीश तथा ब्रह्मवृन्द का यथायोग्य अभिवादन किया और अपन पक्ष का प्रतिपादन करते हुए कहा – "हम अनाथ-दीन-पतित शरणागत होकर आपके चरणों में आए हैं। आप शास्त्र-सिद्धान्त के अनुसार बताइए कि हमारा दोष क्या है ? प्रायश्चित तो हमारे माता-पिता पहले ही कर चुके हैं, अब हमारे लिए क्या आदेश हैं ?"

ज्ञानदेव की विनयपूर्ण युक्तिसंगत वाक्चातुरी से प्रतिष्ठान के ब्रह्मवृन्द प्रभावित हुए। शास्त्रों को उलट-पलटकर अन्त में यह निर्णय दिया गया – "ईश्वर की अनन्यभक्ति का अनुसरण करते हुए

जीवनयापन करके आप लोग स्वयं को पावन कीजिए। शास्त्र में शुद्धि के लिए कोई व्यवस्था नहीं हैं।" ज्ञानदेव ने इस निर्णय को स्वीकार किया, परन्तु भक्तवत्सल भगवान को अपने अनन्यशरण भक्तों का यह अपमान सहन नहीं हुआ। उन्होंने शास्त्राभिमानी ब्राह्मणों को जिस घटना के माध्यम से शिक्षा दी, वह निम्नलिखित प्रकार है –

ब्राह्मणों ने इन भाइयों से पूछा – "अपने नाम का अर्थ आप जरा स्पष्ट करेंगे ?"

ज्ञानदेव – "अवश्य। ये मेरे ज्येष्ठ भ्राता और गुरु निवृत्तिनाथ हैं। प्रवृत्तिमार्ग को इन्होंने पूर्णतः त्याग दिया है। मेरा नाम ज्ञानदेव है और मैं सकल शास्त्रों का वेत्ता हूँ। गुरुकृपा से मुझमें सर्व शास्त्रों का प्रवक्तृत्व आ गया है। मेरे तीसरे भाई सोपानदेव लोगों को केशव-संकीर्तन का सोपान (सीढ़ी) दिखाकर भक्ति का स्वरूप प्रकट करते हैं। और मेरी भगिनी मुक्ताबाई जगदीश की मुक्तिलीला व्यक्त करने भूतल पर आई हैं।

आत्मप्रत्यय का यह अद्भुत विवरण सुनकर ब्रह्मवृन्द विस्मित रह गये। परन्तु उनमें कुछ कुटिल मनोवृत्ति के लोग भी थे, जिन्हें यह कथन गर्वोक्तिपूर्ण लगा। सामने के रास्ते से होकर एक भैंसा जा रहा था। उसका भी नाम 'ज्ञानोबा' था। उन लोगों ने भैंसे को निकट बुलाया और कहने लगे, "ये भी ज्ञानदेव हैं और आप भी। फिर दोनों में अन्तर ही क्या है ?"

ज्ञानदेव – तत्त्वतः कोई भेद नहीं। आत्मतत्त्व तो सर्वभूतों में व्याप्त हैं।

ब्राह्मण – अच्छा तो मैं इस भैंसे को पीटता हूँ। देखते है कि वेदना किसे होती हैं।

उस ब्राह्मण ने निर्दयतापूर्वक महिष के पीठ पर चाबुक से प्रहार

किया। बड़े आश्चर्य की बात है कि ज्ञानदेव के पीठ पर भी चाबुक का निशान उभर आया और उसमें से खून बहने लगा। इस अद्भुत दृश्य को देखकर कुछ लोग भयभीत हो उठे, परन्तु उनमें से एक उद्दण्ड व्यक्ति ने निर्लजातापूर्वक उपहास करते हुए कहा, "उपनयन की योग्यता का प्रमाण तभी माना जाएगा, जब यह भैंसा वेद-मन्त्रों का उच्चारण करेगा।" ज्ञानदेव ने विनम्रतापूर्वक उक्त ब्राह्मण का अभिवादन करते हुए कहा – "आप तो भूदेव हैं; आपके मुख से निकला वचन भला मिथ्या कैसे हो सकता है ?"

ज्ञानदेव ने अपना करकमल भैंसे की पीठ पर रखा और इसके साथ ही एक महान चमत्कार हुआ। "अग्निमीले पुरोहितं..." – आदि चारों वेदों के मुखमन्त्र भैंसे के कण्ठ से सस्वर निःस्रित होने लगे। इस अद्भुत दृश्य को देखने लोग चारों ओर से दौड़कर आने लगे। यह दैवी घटना गोदावरी के निकट शक सं. १२०९ के माघ शु. पंचमी के दिन हुई थी। जिन्होंने भी यह पावन प्रसंग देखा, वे धन्य हो गये।

ज्ञानदेव भगवान के साक्षात विग्रह हैं और उनकी परीक्षा लेने का अधिकार इन क्षुद्रवृत्ति दम्भी ब्राह्मणों को नहीं है, यह समझकर पीठाधीश-सह ब्रह्मवृन्द ने ज्ञानदेव को प्रणिपात किया। वे लोग गलितदर्प एवं लज्जित थे। उन्होंने चारों सहोदरों के चरण पकड़कर क्षमायाचना की। बोपदेव नामक विद्वान ने संस्कृत भाषा में इन भगवत्तुल्य महात्माओं के नाम शुद्धिपत्र लिखा, जिसका अन्तिम वाक्य था – "श्रीमद् ज्ञानेशचरणयुगले सुरसेविते बोपदेवेन ग्रथितं शुद्धिपत्रं समर्पितम्" – सुरगणवन्द्य श्री ज्ञानेश के चरणयुगलों में बोपदेव का लिखा हुआ यह शुद्धिपत्र समर्पित किया जाता हैं।

विद्यार्थियों के प्रति

स्वामी विमलानन्द

(१९५३ ई. के दिसम्बर में रामकृष्ण मिशन के वरिष्ठ संन्यासी स्वामी विमलानन्दजी का आन्ध्रप्रदेश के नेलूर नगर में आगमन हुआ था। वहाँ नगर सभागार में स्थानीय वेंकटगिरि राजा कॉलेज के छात्रों ने उनका व्याख्यान बड़े मनोयोग के साथ सुना। बाद में एक छात्र ने उनसे मिलकर जीवन के लिए कुछ दिशा-निर्देश के लिये प्रार्थना की। उस अवसर पर महाराज ने जो बातें कहीं, उन्हें अत्यन्त मूल्यवान समझकर 'विवेक-ज्योति' में मुद्रित कर रहे हैं। आंग्ल भाषा से इसका हिन्दीकरण श्रीसारदा मठ, दक्षिणेश्वर की प्रव्राजिका श्यामाप्राणा ने किया है। - स.)

प्रभु के दुलारे बेटे,

यह मानव जीवन ईश्वर की एक अमूल्य देन है, अतः व्यर्थ के विचारों एवं कार्यों में अपने समय तथा श्रम को बिल्कुल भी मत गँवाना। ईश्वरीय ज्योति के बिना यह जीवन एक अँधेरी रात के समान है, अतः अपने प्राणों के भी प्राण जगतस्रष्टा ईश्वर के प्रति कभी अविश्वास मत करना और दिन-पर-दिन उनके निकटतर पहुँचने का प्रयास करते रहना।

स्मरण रखना कि तरुणाई ही जीवन की महानतम उपलब्धियों के लिए तैयारी का समय है; अतः सर्वदा अध्ययन, मनन, अवलोकन तथा विश्लेषण करने को उत्सुक रहना और जो सर्वोत्तम लगे उसे आत्मसात कर लेना। इसके साथ ही सदैव उचित एवं भले कार्यों में लगे रहना।

सदा प्रसन्न रहो। अपनी क्षमता एवं शक्ति के अनुसार जब भी मौका मिले निःस्वार्थ भाव से अपने माता-पिता, परिवार के अन्य सदस्यों, पड़ोसियों तथा प्रत्येक जीव की सेवा और सहायता करने में तत्पर रहो। दिन-पर-दिन उत्तरोत्तर अच्छा बनने का प्रयास करो।

दिनचर्या

प्रतिदिन नियमपूर्वक सुबह चार बजे शय्या त्याग करो। थोड़ी देर ईश्वर-चिन्तन और दिन भर अच्छे कार्य करने का संकल्प करो। इसके बाद नित्यकर्म समाप्त करो। ठण्डे जल से स्नान करो। तदुपरान्त एक घण्टा उपासना में बिताओ। आसन पर शरीर को सीधा रखते हुए बैठो और सोचो कि तुम स्वस्थ, शुद्ध तथा सभी कल्मषों से मुक्त हो और तुम्हारे हृदिकमल पर ईश्वर विराजमान हैं। उपासना के अन्त में किसी धर्मग्रन्थ से थोड़ा पाठ करो। फिर अपनी मातृभाषा में कुछ भजन भी गाओ।

अब अपने दिन के कर्तव्य आरम्भ करो। प्रत्येक कर्म के आरम्भ में संकल्प करो, "मैं प्रत्येक कर्म ईश्वर की पूजा के भाव से करूँगा, अतः इसे यथासम्भव अच्छे ढंग से भूलरहित सम्पन्न करने का प्रयास करूँगा। मैं किसी भी काम को अधूरा नहीं छोड़ूँगा, ताकि यह मेरे समय का अपव्यय तथा दूसरों के लिए समस्या न सिद्ध हो। मैं केवल उतने फल की ही आशा करूँगा, जितने के लिए मैंने परिश्रम किया है और मैं जिसके योग्य हूँ। यदि कोई व्यक्ति मुझे शुद्ध भाव से प्रीति सह और बिना किसी नैतिक या आर्थिक अपेक्षा के साथ कोई उपहार देता है, तभी उसे स्वीकार करूँगा।"

जब तक तुम जगे रहो, तब तक अध्ययन, चिन्तन, ईशस्मरण, घर के विभिन्न उपयोगी कार्य, दूसरों की सेवा आदि में अपने को व्यस्त रखो। कठोर परिश्रम करनेवालों को विश्राम की आवश्यकता होती है; यह आलस्य का पर्याय नहीं है। बहुधा कार्य में परिवर्तन से ही हमारे शरीर-मन को विश्राम मिल जाता है और समय का अपव्यय हुए बिना ही नई ताजगी मिल जाती है।

शरीर आत्मा का एक यन्त्र है। इसे पवित्र, स्वस्थ और

यथोचित व्यायाम, भोजन, संयम तथा अन्य उपायों से सशक्त रखो, ताकि तुम इसका सर्वाधिक लाभ उठा सको। वासना और क्षुधा को खुली लगाम देना लम्बे दौर में शारीरिक तथा नैतिक विनाश का कारण बनता है। सदा धैर्य बनाए रखो। कभी किसी व्यक्ति या परिस्थिति पर क्रोध न करते हुए, उचित अन्तर्दृष्टि की सहायता से धीरज के साथ अपनी समस्याओं को दूर करने की चेष्टा करो। शेखीबाज, असहयोगी तथा अनुचित कार्यों में लिप्त रहनेवाले लोगों के प्रति उदासीनता का भाव रखो। ऐसे लोगों से घिर जाने पर भी तुम उनका साथ छोड़ दो और स्वतः प्रवृत्त हो कभी उनसे मेलजोल मत बढ़ाओ। सबके प्रति सहज, स्वाभिमानयुक्त तथा भद्रतापूर्ण दृष्टिकोण और व्यवहार रखो। किसी के शरीर को तभी स्पर्श करो, जब उसे कोई बीमारी हो और उसे तुम्हारी सहायता की जरूरत हो। कभी किसी अन्य के साथ एक ही बिस्तर पर मत सोना और न दूसरों का जूठा किया हुआ भोजन ही ग्रहण करना।

रात के भोजन के कम-से-कम दो घण्टे बाद ही शयन करना चाहिए। जब भी सम्भव हो सोने के पूर्व किसी धर्मग्रन्थ की कुछ पंक्तियों का पाठ करो। ईश्वर का चिन्तन करते हुए ही सोओ। खूब नींद आने लगे तभी लेटना, नहीं तो पढ़ते या कुछ काम करते रहो। नींद पूरी हो जाने पर अविलम्ब शय्यात्याग करो। अर्धनिद्रा या जागते हुए भी आलस्यपूर्वक बिस्तर में पड़े नहीं रहना चाहिए।

ईश्वर एक हैं, पर उनके नाम अनेक हैं। जब हाथ में कोई काम न हो, तो उनका जो भी नाम तुम्हें प्रिय लगता हो, उसका जप करते रहो। इससे मन की शुद्धता बनी रहेगी।

जहाँ तक सम्भव हो, भोजन करने के पाँच घण्टे के भीतर दुबारा भोजन मत करो। भूख न हो और खाने का समय न हुआ हो तो भी जिह्वा की तृप्ति के लिए मुख में कुछ डालकर चबाते

रहना उचित नहीं । अपनी आवश्यकता एवं क्षमता के अनुसार स्वच्छ व पौष्टिक भोजन ग्रहण करो । एकादशी को या पखवारे में किसी एक दिन केवल तरल पदार्थ ग्रहण करते हुए उपवास करना अच्छा है ।

सभी कार्य पहले से योजना बनाकर यथासमय पूरा करना चाहिए । कुछ भी खाते या पीते समय मौन रहो और ध्यान से देखते हुए खाओ, ताकि यदि उसमें कोई गन्दगी पड़ी हो तो उसे निकाल सको । जल्दबाजी या असावधानीपूर्वक किया गया कोई भी कार्य गलत हो जाने की सम्भावना है और उसे दुबारा भी करना पड़ सकता है । अतः तुम्हें जो कुछ भी करना हो, उसे धैर्य, सावधानी तथा मनोयोगपूर्वक करो । अपनी भावुकता को सर्वदा विचारों के अधीन बनाकर रखो । सदा सतर्क और सक्रिय रहो । सोचो अधिक, पर बोलो कम और जो कुछ लिखो उसे दुबारा पढ़कर जाँच लो ।

किसी भी दल या दादागीरी करनेवाले के अधीन मत होना, बल्कि अपने ही विचारशक्ति एवं विवेक से काम लो । सबकी सुनते रहो, परन्तु स्वीकार वही करना जो तुम्हारे सच्चे विकास के लिए उपयोगी हो । विवेकवान तथा भले लोगों की ही संगत करो और उनसे मित्रता बढ़ाने के पूर्व उन्हें भलीभाँति परख लो । जब ऐसे लोगों का संग न मिले, तो महान लोगों की जीवनियों तथा उनके द्वारा लिखित ग्रन्थों को अपना साथी बनाओ ।

अपने से छोटों के प्रति उदारता, समवयस्कों के प्रति न्याय, दुर्बलों तथा वयस्कों के प्रति सेवा और ज्ञानी एवं ईश्वर-परायण लोगों के प्रति सम्मानपूर्वक आज्ञाकारिता का भाव रखना ।

निम्नलिखित गुणों को अपने आचरण में लाओ – संतुलित स्वभाव, पवित्रता, ब्रह्मचर्य, धैर्य, सौजन्यता, अध्यवसाय, ईश्वरनिष्ठा,

बड़ों के प्रति सम्मान का भाव, सबकी सहायता में तत्परता, उन्नत अभिरुचि, किसी उच्च आदर्श के रूपायन में मनोनियोग और दूसरों को असुविधा पहुँचाए बिना अपने शरीर-मन की देखभाल।

निम्नलिखित खतरों से बचो – चमत्कारों, अन्धविश्वासों और तथाकथित अद्‌भुत लोगों के सनकपूर्ण एवं अतिरंजित दावों पर विश्वास मत करो।

'एके साधै सब सधै, सब साधे सब जाय' – जो अनेक वस्तुओं के पीछे दौड़ता है, उसे एक की भी उपलब्धि नहीं होती। जो हर रोज एक नया कुआँ खोदता है, उसे किसी में भी जल नहीं मिलता। अतएव निष्ठापूर्वक एक ही आदर्श, एक ही कार्यप्रणाली और जीवन भर के लिए एक ही योजना को पकड़े रहो।

दूसरों के नेतृत्व तथा तथा देश के सुधार का अहंकार तुम्हारे अग्रगति का मार्ग अवरुद्ध न कर दे, अतः ऐसे भावों को अपने मन में प्रश्रय मत दो। परन्तु उपरोक्त वर्णित परिकल्पना के अनुसार अपना जीवन बिताने के प्रयास में लगे रहो। दृढ़तापूर्वक अपने पैरों पर खड़े होकर सर्वोत्कृष्ट जीवन बिताओ, ताकि दूसरे लोग भी तुम्हारे उपदेशों के अनुसार नहीं, बल्कि उदाहरण देखकर अपना जीवन-गठन कर सकें। दूसरों की गल्तियों को सुधारने का सर्वोत्तम उपाय यह कर है कि तुम स्वयं उन त्रुटियों का शिकार होने से बचने का प्रयास करो।

स्वामी विवेकानन्द के शब्दों में "शिक्षा का अर्थ है उस पूर्णता को अभिव्यक्त करना जो सभी मनुष्यों में पहले से ही विद्यमान है। ... जिस संयम के द्वारा इच्छाशक्ति का प्रवाह तथा विकास नियन्त्रित किया जाता है और फलदायी बनाया जाता है, वही शिक्षा कहलाता है।"

OOO

माँ के सान्निध्य में (३४)

सरयूबाला देवी

(प्रस्तुत संस्मरणों की लेखिका श्री माँ सारदा देवी की शिष्या थीं। मूल बँगला ग्रन्थ "श्री श्री मायेर कथा" के प्रथम भाग से इसका अनुवाद किया है स्वामी निखिलात्मानन्द ने, जो सम्प्रति रामकृष्ण मठ, इलाहाबाद के अध्यक्ष हैं। - सं.)

राधाष्टमी, १८ सितम्बर १९१२

गौरी माँ के आश्रम के स्कूल के कार्यों में व्यस्त रहने के कारण आजकल मेरा माँ के पास इच्छानुसार जाना सम्भव नहीं हो पाता हैं। राधा अष्टमी के दिन समय पा मैंने माँ के पास जाकर देखा कि वे गंगास्नान हेतु जाने के लिए पास के कमरे में तेल लगा रही हैं। लोग कहते हैं कि तेल लगाते समय व्यक्ति को प्रणाम नहीं करना चाहिए। फिर जगजननी भी तो मानवदेह धारण करने पर मानवीय नियमों के वशीभूत रहती हैं – यह सोच मैंने उन्हें प्रणाम नहीं किया। मुझे देखते ही उन्होंने कहा, "आओ बेटी, आओ, सबेरे सबेरे आयी हो – अच्छा किया। आज राधा अष्टमी का दिन भी अच्छा है, बैठो, मैं नहा कर आती हूँ।" मेरे कहने पर कि मैं भी उनके साथ गंगा जाऊँगी, वे बोलीं, "तब चलो।" उस समय बूँदाबाँदी हो रही थी, इसलिए गोलाप माँ ने मुझे किसी प्रकार भी जाने नहीं दिया। माँ ने भी तब गोलाप माँ की हाँ मे हाँ मिलाते हुए कहा, "तो रहने दो बेटी, मैं अभी आयी। " इसलिए रहना पड़ा। इसी प्रकार मैं प्रायः देखती थी कि माँ एक सरल वधू की भाँति भी किसी की बात पर जोर देकर कुछ कहती नहीं थीं। जो हो, माँ के बाहर निकलते ही वर्षा प्रारम्भ हो गयी। घर वापस लौटने पर माँ ने मुझसे कहा, "बाहर निकलते ही पानी गिरने लगा। यह देख मैं सोचने लगी – अहा ! तुम आना चाह रही थी, आने से अच्छा होता, गंगा दर्शन हो जाता।" सच बात तो यह थी

कि मैं गंगा-दर्शन के लिए उतनी नहीं, जितनी माँ का संग लाभ करने की आकांक्षा से जाना चाह रही थी। संसार की विभिन्न बाधा-विघ्नों के कारण माँ के पास आना ही नहीं होता था, इसलिए भाग्य से जिस दिन माँ के पास आना होता उस दिन तनिक भी इच्छा नहीं होती थी कि माँ को क्षण भर के लिए भी आँखों से ओझल करूँ। माँ की बात सुनकर गोलाप माँ ने कहा, "नहीं गयी तो क्या हुआ, तुम्हारे चरणों के स्पर्श से ही सब होगा।" मेरे भी वैसा कहने पर माँ बोलीं, "कहती क्या हो ! गंगा से भला तुलना !" उसी प्रकार व्यवहार में अथवा बातचीत में माँ कभी भी स्वयं के महत्व की बात प्रकाशित नहीं करती थीं। वे इसी प्रकार बोलतीं और दिखातीं कि वे अन्यों जैसी सामान्य महिला हैं। फिर यह भी देखा है कि कोई पास न रहने पर उन्होंने किसी किसी के प्रति कृपापूर्वक अपने असीम महिमामय जगन्माता का भाव भी प्रकट किया हैं। कमरे में लौटकर तख्त पर बैठते हुए मुझसे बोलीं, "अच्छा है, मैं गंगास्नान करके भी आ गयी।" मैं समझ गयी कि वे जान गयी हैं कि मैं उनके चरण कमलों की पूजा के उद्देश्य से आयी हूँ। मैंने मन ही मन कहा, "माँ ! तुम तो नित्य शुद्धा हो, तुम्हें भला गंगास्नान की क्या आवश्यकता ! " मैं तुरन्त फूल-चन्दन आदि लेकर उनके चरणों के नीचे बैठी ही थी कि उन्होंने कहा, "उसमें यदि तुलसी पत्र हो तो पैरों में न देना।" पूजा समाप्त कर मैं प्रणाम करके उठी। अब माँ जलपान करने बैठीं। अपूर्व स्नेह से मुझे अपने समीप बिठा प्रत्येक वस्तु को आधी खाकर प्रसाद बनाकर मुझे देने लगीं। मैंने भी परम आनन्द के साथ प्रसाद पाया। शाल के पत्ते में प्रसाद पाते समय साधु नाग महाशय का स्मरण हो आया। मैंने माँ से कहा, "माँ, शाल के पत्ते में प्रसाद पाते ही नाग महाशय की याद हो आयी है।"

माँ ने कहा, "अहा ! उसकी कैसी अपूर्व भक्ति थी। यह देखो

न, शाल का पत्ता कैसा सूखा और खड़खड़ा हैं । इसे कोई खा सकता है ? प्रसाद का इससे स्पर्श हुआ है यह सोच भक्ति के आधिक्य में वह शाल का पूरा पत्ता ही खा गया । अहा ! उसकी कैसी प्रेम भरी आँखें थीं । रक्तिम आँखें – सब समय आसुओं से भरी ! कठोर तपस्या से सारा शरीर जीर्ण शीर्ण हो गया था । अहा! जब वह मेरे पास आता तो भाव के आवेग से सीढ़ी से ऊपर चढ़ नहीं पाता था । ऐसा (अपने को दिखाते हुए) थरथर काँपता – इधर पैर रखने से उधर पड़ता । ऐसी भक्ति और किसी की नहीं देखी ।''

मैने कहा, ''पुस्तक में पढ़ा है कि जब वे डॉक्टरी छोड़कर दिन-रात ठाकुर के ध्यान में मग्न रहने लगे तो उनके पिता ने एक दिन कहा, ''अब और क्या करेगा, नंगा होकर घूमेगा और मेढक पकड़कर खायेगा ।'' आँगन में एक मरा हुआ मेढक देख नाग महाशय ने अपने कपड़े फेंक दिये और नंगे होकर वह मेढक उठाकर खा लिया और पिता से बोले, ''आपके दोनों ही आदेशों का पालन किया, आप अब मेरे खाने-पीने की चिन्ता छोड़कर इष्ट नाम का जप कीजिए ।''

माँ – ''अहा, कैसी गुरुभक्ति थी ! शुचि, अशुचि में कैसा सम ज्ञान था !''

मैने फिर कहा, ''अर्धोदय योग के समय नाग महाशय कलकत्ते से अपने घर लौटे थे । इस पर उनके पिता ने भर्त्सना करते हुए कहा, 'गंगास्नान न कर गंगा-प्रदेश से घर चला आया ?' पर योग के समय सबने देखा कि आँगन को भेदकर जलधारा निकलकर सारे आँगन को डुबाने लगी । और नाग महाशय – 'आओ माँ गंगे, आओ माँ गंगे' कहते हुए अंजलि भरकर वह जल अपने सिर पर देने लगे । यह देख मुहल्ले के सब लोग उस जल में स्नान करने लगे ।

माँ – हाँ, उनकी भक्ति के प्रभाव से ये सब अद्‌भुत घटनाएँ हुई थीं। मैंने एक कपड़ा दिया था उसे सिर में बाँधकर रखता। उसकी स्त्री भी बहुत अच्छी और भक्तिमती है। उस दिन – आम के मौसम में यहाँ आयी थी। अभी भी जीवित है।

इसी समय कुछ स्त्री-भक्तों के आने से बात थम गयी। माँ ने उठकर उनका प्रणाम ग्रहण किया और मुझसे पान बनाने के लिए कहा। कुछ देर बाद मैंने दो पान लाकर माँ को दे दिया। माँ ने दोनों पान अपने हाथ में ले एक स्वयं खाया और दूसरा मुझे खाने को दिया, मैं पुनः बाकी का पान बनाने चली गयी। माँ कुछ देर बाद ही दो स्त्री-भक्तों को साथ ले उसी कमरे में आकर बैठीं। दोनों स्त्री-भक्तों की सहायता से पान बनाने का काम शीघ्र ही हो गया। माँ ने ठाकुर का पान पहले अलग निकाल लिया और मेरी अच्छी बेटियों ने कितनी जल्दी पान बना ली – कहकर आनन्द प्रकाश करने लगीं।

अब माँ तिमंजले में गोलाप माँ के कमरे में गयीं। कुछ देर बाद मैं वहाँ जाकर देखती हूँ कि माँ उस कमरे के दरवाजे की चौखट में सिर रखकर लेटी हुई हैं। भला, भीतर कैसे जाऊँ। मुझे देख माँ ने कहा, "आओ, आओ, इसमें कोई दोष नहीं।" सब समय माँ का इसी प्रकार का भाव रहता था। बाद में माँ ने सिर उठाया। कमरे में जाकर मैं उनके पास बैठकर हवा करने लगी। माँ लेटी हुई गौरी माँ के स्कूल की सब बातें, गाड़ी का किराया आदि के सम्बन्ध में पूछने लगीं। मैं भी यथासाध्य उत्तर देने लगी। उसी समय वे दोनों भक्त-स्त्रियाँ वहाँ आयीं। उनमें से एक माँ के बालों को सुखाने लगी और उनके सफेद बालों को निकाल आँचल में बाँधकर रखने लगी। उसने कहा कि वह इनका कवच बनायेगी। इस पर माँ लज्जित होकर बोलीं, " उन सफेद बालों का क्यों? कितने गुच्छे के गुच्छे काले बाल फेंक जो दे रही हूँ।" माँ अब

उठकर छत में थोड़ी धूप सेंकने गयीं। हम लोग भी साथ में गयीं और एक किनारे खड़ी होकर गंगा दर्शन करने लगीं। इसी समय गोलाप माँ अपने कमरे से बोलीं, "माँ तो सबको लेकर छत में गयी हैं। मैं कैसे जानूँ कि कौन खायेगा और कौन नहीं ?" यह सुन मैंने माँ से पूछकर उन्हें सूचित किया कि केवल वह विधवा महिला नहीं खायेंगी। धूप में बहुत से कपड़े डाले गये थे। माँ ने मुझे उन्हें उठाकर कमरे में रखने के लिए कहा। मै कपड़े उठा रही थी कि माँ ठाकुर को भोग लगाने नीचे उतरीं। हम लोग भी सब नीचे ठाकुर घर में आये। भोग दिये जाने पर माँ ने मुझसे स्त्रियों के लिए बैठने की जगह बना देने के लिए कहा। बाद में हम सब प्रसाद पाने बैठे। माँ ने एक-दो कौर खाकर हम सबको प्रसाद दिया। इसके कुछ पहले और दो स्त्री-भक्त आयी थीं। उनमें से एक ठाकुर के समय की सधवा वृद्धा थीं और दूसरी उनकी पुत्रवधु। वृद्धा खाते खाते कहने लगीं, " अहा ! ठाकुर नें हम लोगों को जो सब बातें बताई थीं, उनका हम क्या पालन कर रहे हैं? संसार का इतना सब भोग क्यों भोगना पड़ता है ? संसार संसार कहते हुए मर रहे हैं और कहते जा रहे हैं कि यह काम नहीं हुआ, वह काम नहीं हुआ।" माँ ने यह सुनकर कहा, "काम तो करना ही चाहिए। कर्म करते रहने से कर्म का बन्धन कट जाता है। तभी निष्काम भाव आता है। क्षण मात्र भी बिना कर्म के रहना उचित नहीं।"

भोजन के बाद माँ थोड़ी देर विश्राम करने के लिए खाट पर लेटीं। सभी उनकी सेवा करने के लिये लालायित थे। पर माँ ने सबको विश्राम करने के लिये कहा। कुछ देर बाद अन्य सब स्त्रियाँ घर में काम है कहकर चली गयीं। मैं और ठाकुर के समय की एक विधवा महिला रह गयी। मुझ अकेली को माँ की सेवा का भार मिल गया। वह विधवा माँ के पास वैठकर अपने संसार के

दुख की अनेक बातें बताने लगीं, "माँ, आपके पास सभी अपराधों के लिये क्षमा मिल सकती है पर उन लोगों के पास क्षमा नहीं है," आदि। मैंने उनसे पूछा, "आपने क्या ठाकुर को देखा है ?"
– "हाँ देखूँगी क्यों नहीं ? वे हमारे घर आते थे। माँ तो तब बहू की भाँति रहती थीं।"

मैंने कहा, "ठाकुर के सम्बन्ध में कुछ बताइये न – मैं सुनूँ।" उन्होंने कहा, "मैं क्या बोलूँ, माँ को बोलने के लिये कहो।" माँ तब आँखें बन्द किये हुए थीं, इसलिए मैं कुछ बोल नहीं पायी। थोड़ी देर में माँ स्वयं कहती हैं, "जो व्याकुल हो उन्हें पुकारेगा, वही उनका दर्शन पायेगा। उस दिन उस लड़के (ठाकुर के प्रिय भक्त तेजचन्द्र मित्र) की मृत्यु हो गयी। अहा ! कितना अच्छा था वह ! ठाकुर उसके घर जाते थे। एक दिन किसी ने ट्राम में उसकी जेब से दूसरे का दिया २०० रु. मार दिया। घर आने पर उसे पता चला। व्याकुल होकर वह गंगा के किनारे रोने लगा, 'हाय ठाकुर, यह तुमने क्या किया !' उसकी अवस्था भी ऐसी नहीं थी कि खुद रुपये चुका पाता। अहा ! उसको रोते देखकर ठाकुर उसके सामने आकर कहते हैं, 'अरे, क्यों रोता है ? गंगा के किनारे ईंट में दबा हुआ है, देख।' उसने तुरन्त ईंट को उठाकर देखा तो सचमुच में नोटों की एक गड्डी थी। यह सब उसने शरत् (स्वामी सारदानन्द) को आकर बतायी। शरत् ने सुनकर कहा, 'तुम लोग तो अभी भी दर्शन पाते हो, किन्तु हम लोगों को अब दर्शन नहीं मिलता।' उन लोगों को भला और क्या मिलना बाकी है ? वे लोग सब देख सुनकर परिपूर्ण होकर बैठे हैं। जिन्होंने ठाकुर को नहीं देखा, अब उनमें ही व्याकुलता अधिक है।

"ठाकुर तब दक्षिणेश्वर में थे, राखाल आदि सब छोटे थे। एक दिन राखाल ने ठाकुर से कहा कि उसे बहुत जोरों की भूख लगी है। ठाकुर यह सुनकर गंगा के किनारे जाकर जोर से

चिल्लाकर कहने लगे 'अरी गौरदास, जल्दी आ। मेरे राखाल को जोर की भूख लगी है।' तब दक्षिणेश्वर में खाने-पीने की व्यवस्था नहीं थी। कुछ देर बाद गंगा में एक नाव दिखायी दी। घाट में नौका लगते ही उसमें से बलराम बाबू, गौरदासी आदि एक हंडी में रसगुल्ला लिये हुए उतरे। ठाकुर तो आनन्द में राखाल को पुकार कर कहने लगे, 'अरे, आ रे आ, रसगुल्ला आया है , आ खा। भूख लगी है कह रहा था न ?' राखाल तब गुस्से में आकर कहने लगा, 'आपने इस प्रकार सबके सामने भूख लगी है, क्यों कहा ?' उन्होंने कहा, ' इससे क्या हुआ रे, भूख लगी है तो बोलने में क्या दोष ?' उनका ऐसा ही स्वभाव था।"

इसी समय भूदेव स्कूल से बुखार लेकर लौटा। माँ ने उसके लिये बिस्तर लगा देने को कहा। मैंने बिस्तर लगा दी। माँ को आज एक बार रामबाबू की माँ को देखने बलराम बाबू के घर जाना है। वे रक्त आमाशय से बहुत पीड़ित हैं। इसलिए वे जल्दी उठकर अपना शाम का कामकाज निपटाने लगीं और बोलीं, "एक बार वहाँ जाना ही होगा। माकू के स्कूल की गाड़ी आने से उसे रुकने के लिये कहना।" ठाकुर को शाम का भोग दे उन्होंने मुझे प्रसाद लेने को कहा। मैंने कहा, "अभी रहने दें।" वे बोलीं, "ठीक है, बाद में लेना। नलिनी इसे प्रसाद देना।" माकू की गाड़ी आते ही उन्होंने कहा, "मैं जल्दी ही लौटकर आ रही हूँ। तुम बैठना। मेरे आये बिना जाना नहीं। माँ और गोलाप माँ घंटे भर बाद बलराम बाबू के यहाँ से लौटीं। इधर मुझे सूचना मिली कि मुझे लेने के लिये कोई आया है, पर मैं माँ के लौटने की प्रतीक्षा में थी। माँ ने आते ही कहा, "तुम बैठी हो बेटी, मैं तुम्हारे लिए ही जल्दी चली आयी। कुछ खाया है ?"

"नहीं माँ।"

"यह क्या नलिनी, कुछ खाने को नहीं दिया। मैं बोलकर

गयी थी ।"

नलिनी (लज्जित होकर), "याद नहीं रहा, अभी देती हूँ ।"

माँ, "न, रहने दे, अब तुझे देने की जरूरत नहीं । मैं देती हूँ। (मुझसे) तुमने माँग क्यों नहीं लिया बेटी ? यह तो अपना ही घर है ।"

मैंने कहा, "वैसी भूख रहने से मैं माँगकर खा लेती थी, माँ।"

माँ ने तुरन्त जाकर कुछ प्रसादी मिठाई लाकर मुझे दी । मैं आनन्द से खाने लगी । "मैं पान दे रही हूँ," कहकर वे पान लाने गयी । नलिनी दीदी ने कहा, "वहाँ बना हुआ पान नहीं है, क्या दोगी ?" किन्तु खोजने पर माँ को दो बने हुए पान मिल गये । उन्होंने वह मुझे दिया । मेरे प्रणाम करके विदा माँगने पर उन्होंने कहा, "फिर से आना बेटी – दुर्गा, दुर्गा ।" फिर उठते हुए बोली, "क्या मैं साथ आऊँ ? अकेली उतर सकोगी ? रात हो गयी है ।"

मैंने कहा, "अवश्य उतर सकूँगी माँ, आपको आना नहीं होगा।" माँ फिर भी सहास्य दुर्गा दुर्गा कहती हुई सीढ़ी तक आकर रुकीं । मैंने कहा, "और रुकने की आवश्यकता नहीं माँ, मैं ठीक चली जाऊँगी ।"

और एक दिन – अक्षय तृतीया के दिन पूर्वोक्त वह सधवा वृद्ध महिला अपने पुत्रवधू के साथ स्नान करके आयीं और माँ के हाथ में जनेऊ और कुछ फल देने लगीं । माँ ने कहा, "मुझे क्यों ? भूदेव को दो ।" उसके कुछ देर बाद, बात बात में हम लोगों की ओर वे देखकर बोलीं, "आज के दिन मैं तुम लोगों को आशीर्वाद देती हूँ कि तुम लोगों को मुक्तिलाभ हो । जन्म और मृत्यु यह बड़ी यत्रणा है । वह तुम लोगों को और भोगना न पड़े ।

(क्रमशः)

एक अपील

रामकृष्ण मठ
पो. बेलुड़ मठ, जिला - हावड़ा
(पश्चिमी बंगाल) ७११ २०२

यह घोषित करते हुए हमें अत्यन्त हर्ष हो रहा है कि रामकृष्ण मठ तथा मिशन, बेलुड़ मठ के पुराने मुख्यालय भवन में एक पुराभिलेखागार आरम्भ किया गया है। उसी भवन में एक संग्रहालय की भी स्थापना होगी, जो निकट भविष्य में जनता के परिदर्शनार्थ खोल दिया जाएगा।

इस संग्रहालय में श्रीरामकृष्ण, माँ सारदादेवी, स्वामी विवेकानन्द तथा श्रीरामकृष्ण के अन्य शिष्यों द्वारा उपयोग में लाये हुए वस्त्र, घड़ियाँ, जूते आदि और साथ ही उनके पत्र, लेखों की पाण्डुलिपियाँ, व्यक्तिगत डायरियाँ, पुस्तकें तथा उन्हें समर्पित मानपत्र आदि संरक्षित किए जाएँगे। इसमें हम माँ सारदादेवी तथा श्रीरामकृष्ण-शिष्यों के पदचिह्न भी रखना चाहेंगे।

जिन भक्तों या मित्रों के पास किसी भी प्रकार की कोई सामग्री हो, उनसे हमारा हार्दिक अनुरोध है कि वे उन्हें बेलुड़ मठ के अधिकारियों को सौंप दें, ताकि वैज्ञानिक पद्धति से उन्हें संरक्षित करने के पश्चात वर्तमान तथा भविष्य में शताब्दियों तक आनेवाली पीढ़ियों के भक्तों तथा जनता के लाभार्थ उनका प्रदर्शन किया जा सके।

२६-१-१९९४

स्वामी आत्मस्थानन्द
महासचिव

स्वामी तुरीयानन्द के उपदेश

(मूल बँगला पत्रों से संकलित तथा अनुदित)

– ४९ –

शरीर रहने से उसके सुख-दुःख तो लगे ही रहते हैं - **न वे सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति** [1] - ऐसा वेदवाक्य है। परन्तु वेद का यह भी आदेश है कि शरीर शरीर कहते हुए जीवनयापन करना भी उचित नहीं। **अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः** [1] – अर्थात इसी शरीर में अशरीरी आत्मा है, जिसे प्रिय या अप्रिय कुछ भी स्पर्श नहीं कर सकता। "मैं शरीर हूँ" – यही सोचकर तो मनुष्य सुख-दुःख से जर्जर हो जाता है। "मैं शरीर नहीं, अशरीरी आत्मा हूँ" – इसी चिन्तन के द्वारा सुख-दुख के पार जाने का प्रयास करना उचित है। इसमें सन्देह नहीं कि इससे कष्ट काफी घट जाते हैं।

इस संसार में जो कुछ भी दिखता है, सब चिन्तन का ही फल है। जो जैसा चिन्तन करता है, वह वैसा ही हो जाता है सर्वदा शरीर-भावना की अपेक्षा अन्ततः बीच-बीच में अशरीर-चिन्तन का अभ्यास काफी कल्याणकारी हो सकता है। प्रभु ईसा कहते हैं – "He that has, to him shall be given. He that has not, from him shall be taken even what he has." अर्थात जिसके पास है, उसे और भी दिया जाएगा; और जिसके पास नहीं है, उससे जो है वह भी छीन लिया जाएगा। यह बिल्कुल सच बात है। हमारे ठाकुर भी कहा करते थे – "जो सर्वदा यह कहा करता है कि मेरा कुछ भी नहीं हुआ, मैं पापी हूँ, इत्यादि उसका कुछ भी नहीं होता और वह पापी ही हो जाता है।"

अतः हताश न होना और यह भाव दृढ़ करने का प्रयास करना कि मैं भगवान का नाम ले रहा हूँ, मुझे भय कैसा ? उनकी कृपा

---

१ सशरीर व्यक्ति अर्थात् जिसे शरीर में 'मैं' बुद्धि है, उसका प्रिय और अप्रिय अर्थात् भले-बुरे के हाथ से छुटकारा नहीं (छान्दोग्य उपनिषद ८/१२)

से मेरी सारी बाधाएँ दूर हो जाएँगी । 'जय माँ काली' – कहते हुए ताल ठोककर उनका नाम और चिन्तन करने में लग जाओ । इससे बल मिलेगा । पड़े रहने से और भी पड़े रहने की इच्छा होती है, परन्तु एक बार झाड़-पोंछकर उठ जाने पर, फिर पड़े रहने की इच्छा नहीं रह जाती है । तब फिर घूमने की इच्छा भी होती है और शरीर में शक्ति भी आती है । इसीलिए ईसामसीह यह बात कह गए हैं कि जिसके पास हैं उसे और मिलेगा तथा जिसके नहीं है, उससे जो है वह भी छीन लिया जाएगा । खूब उत्साह चाहिये। ठाकुर को ढीला-ढाला भाव पसन्द नहीं था, वे डकैत-भाव पसन्द करते थे । इसीलिए स्वामीजी **"उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत"** [२] का अथक प्रचार कर गए हैं । भय की कोई बात नहीं, उन्हें पुकारो, वे सब ठीक कर देंगे । वे पराये नहीं हैं । वे अपनों से भी ज्यादा अपने हैं यह बात हृदय से ठीक-ठीक जानकर उनसे प्रार्थना करो, इसी से सब ठीक हो जाएगा । शरीर तो अभी है, और अभी नहीं, परन्तु वे तो चिरकाल के लिए हैं, उन्हें अपना बनाना चाहिए ।

निरुत्साहित न होना । मन में खूब बल लाना और सर्वदा भगवान का नाम-स्मरण करना । वे ही सभी के आश्रय हैं । अपने आपको पूर्णरूपेण उनके श्रीचरणों में सौंपकर निश्चिन्त हो जाओ। भय, चिन्ता अपने आप चली जाएगी और हृदय में नवीन बल का संचार होगा ।

*****

---

२ उठो (अज्ञान निद्रा से) जागो, श्रेष्ठ आचार्यों के पास जाकर सम्यक ज्ञान की प्राप्ति करो, (कठोपनिषद् १/३/१४)

शिकागो धर्ममहासभा में स्वामी विवेकानन्द की उपस्थिति का शताब्दी-पूर्ति समारोह

पिछले वर्ष की ११ सितम्बर से ही सम्पूर्ण विश्व में स्वामीजी के शिकागो-भाषण की शताब्दी मनाई जा रही थी। इसी की परिपूर्ति के रूप में रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर में ९ सितम्बर, १९९४ को एक सार्वजनिक सभा तथा ११ सितम्बर को भजन-संध्या का आयोजन किया गया था। लोगों ने काफी संख्या में उपस्थित होकर इन कार्यक्रमों से लाभ उठाया।

९ सितम्बर के कार्यक्रम में मध्यप्रदेश के मुख्यमंत्री श्री दिग्विजय सिंह मुख्य अतिथि के रूप में, म. प्र. लघु उद्योग निगम के अध्यक्ष श्री कनक तिवारी विशिष्ट अतिथि के रूप में और रामकृष्ण मिशन, नारायणपुर के सचिव स्वामी श्रीकरानन्द अतिथि- वक्ता के रूप में उपस्थित थे।

" स्वामी विवेकानन्द और वर्तमान भारत" – विषय पर बोलते हुए माननीय मुख्यमंत्री ने कहा – यह देश का दुर्भाग्य है कि आज हर स्तर पर चारित्रिक अवमूल्यन दिखाई पड़ रहा है। भारत जिन मूल्यों, मान्याताओं एवं परम्पराओं के लिए प्रसिद्ध था, उन्हें फिर से जिलाने की आवश्यकता है। आज के युवक के पास हर काम के लिए समय है, परन्तु अच्छे लोगों से सम्पर्क और सत्संग करने का समय उसके पास नहीं है। ऐसे अन्धकारमय परिवेश में रामकृष्ण मिशन एक दीप की भाँति प्रज्वलित है। ऐसे प्रांगण हर गाँव, हर शहर, हर जिले में हों, तो चारित्रिक अवमूल्यन को रोका जा सकता है। संस्कारविहीन समाज आज की सबसे बड़ी चुनौती है। देश के अच्छे सुसंस्कृत परिवारों में भी इसका अभाव देखने में आता है। शाला- परिवार के माध्यम से जो सस्कार तथा संस्कृति का ज्ञान बच्चों

को मिलना चाहिए था, वह नहीं मिल रहा है। माता-पिता के पास भी बच्चों में अच्छे संस्कार डालने का समय नहीं है।

उन्होंने आगे कहा – स्वामी विवेकानन्द को हिन्दूवादी कहकर प्रचार करना उनके प्रति सबसे बड़ा अन्याय है। स्वामीजी हिन्दूवादी नहीं, बल्कि सर्वश्रेष्ठ मानव थे, जिन्होंने धर्म की व्याख्या तथा उसके सच्चे स्वरूप को जन जन तक पहुँचाने का अथक प्रयास किया। आज नौजवानों तथा शिक्षित वर्ग के भीतर धर्मान्धता का जहर घोला जा रहा है। हिन्दू धर्म को विकृत करने की कोशिश भी देश के सामने एक बड़ी चुनौती है और साथ ही विकृत धार्मिकता वाले लोग भी। स्वामीजी की बातों को जन-जन तक पहुँचाए बिना इन विकृतियों को सुधारना असम्भव है।

मुख्यमंत्री ने अगले सत्र से स्कूली पाठ्यक्रम में प्रायमिक तथा माध्यमिक स्तर पर बतौर मारल-साइंस (नैतिक विज्ञान) स्वामी विवेकानन्द के दर्शन को शामिल करने की घोषणा की तथा आश्रम के सचिव स्वामी सत्यरूपानन्दजी से इसका प्रारूप तैयार कर शासन को भेजने का निवेदन किया। उन्होंने कहा कि बच्चों को विशेषकर शासकीय शालाओं में सुसंस्कारित बनाने हेतु स्वामीजी के विचारों का ज्ञान देना आवश्यक है। उन्होंने कहा कि वे इसके सख्त खिलाफ है कि कोई संस्था खोल ली जाये और उसे कामचलाऊ रूप से चलाया जाये। उन्होंने कहा कि निजी संस्थाओं का सरकारीकरण वे किसी सूरत में नहीं करना चाहते, बल्कि वे चाहते हैं कि शासकीय संस्थाओं का निजीकरण हो, ताकि हर क्षेत्र के गिरते स्थर को सुधारा जा सके।

उन्होंने विवेकानन्द आश्रम के स्वामी सत्यरूपानन्दजी से अनुरोध किया वे बच्चों व युवाओं के चारित्रिक उत्थान के लिये आश्रम में १०-१५ दिनों का शिविर आयोजित करें व उसमें निरंतरता रखे, ताकि बच्चों, युवाओं व नागरिकों का चारित्रिक स्तर

सुधर पाये। उन्होंने कहा कि आज जिसके पास पैसा खर्च करने की क्षमता है, वह अपने बच्चों को पढ़ाने सरकारी स्कूलों में नहीं भेजेगा। इसके लिये स्तर को ऊपर उठाने के लिए संस्कार की शिक्षा जरूरी है। उन्होंने विवेकानन्द की वाणी तथा उनके दर्शन को केवल सामयिक ही नहीं, आवश्यक भी निरूपित किया।

मध्यप्रदेश लघु उद्योग निगम के अध्यक्ष श्री कनक तिवारी ने – राष्ट्रीय समस्यायें और स्वामी विवेकानन्द – विषय पर अपने विचार प्रगट करते हुये कहा कि स्वामी विवेकानन्द भारत के पहले ऐसे विचारक थे जिन्होंने समाजवाद की अवधारणा को प्रतिपादित किया। उन्होंने मुख्यमंत्री से स्वामी विवेकानन्द को स्कूली पाठ्यक्रम में शामिल करने का अनुरोध किया। श्री तिवारी ने स्वामी विवेकानन्द के द्वारा शिकागो महासभा में दिये गये भाषण का उदाहरण देते हुये कहा कि वे सिर्फ एक हिन्दू संत ही नहीं, बल्कि पूरे भारत के इतिहास और संस्कृति के प्रतिनिधि थे। वे सही मायने में एक शिक्षाशास्त्री, मनोवैज्ञानिक और देशप्रेमी थे, जिन्होंने समाज को नई दिशा प्रदान की। उन्होंने बाल-विवाह पर कटाक्ष किया, और साथ ही महिलाओं की समानता के अधिकार का समर्थन किया। श्री तिवारी ने स्वामी विवेकानन्द की तुलना गौतम बुद्ध और महान अर्थशास्त्री कार्ल मार्क्स से करते हुये कहा कि स्वामी विवेकानन्द के विचारों में संपत्ति के प्रति अपरिग्रह का भाव स्पष्ट परिलक्षित होता है और यही बातें बुद्ध और मार्क्स ने भी कही थीं। उनके विचारों में शोषित और दलितों के प्रति संवेदना स्पष्ट दिखाई पड़ती है। इसीलिए उन्होंने कहा था कि एक दिन दलितों और शोषितों की भी हुकूमत स्थापित होगी। अंत में श्री तिवारी ने सभी वर्गों का आह्वान किया कि वे स्वामी विवेकानन्द के विचारों के अनुरूप शिक्षा के माध्यम से समाज के घटको को मानव अथवा मनुष्य बनाने की चेष्टा करें।

नारायणपुर आश्रम के सचिव स्वामी श्रीकरानन्द ने परिसवाद में – मनुष्य निर्माणकारी शिक्षा और सेवा – विषय पर कहा कि जो शिक्षा देश में उपलब्ध है, वह अधूरी है। क्योंकि वह मनुष्य से कार्य करना सिखाती है, पर मनुष्य जैसा बनना नहीं सिखाती। ऐसे में लोग शिक्षित होकर भी अशिक्षित रह जाते है। उन्होंने मनुष्य निर्माण करने के लिए समाज में विवेकानन्द के विचारों को प्रासंगिक बताया। कार्यक्रम का प्रारंभ मुख्यमंत्री ने विवेकानन्द की तस्वीर पर माल्यार्पण करके किया। इस अवसर पर उनका, विशिष्ट अतिथि श्री कनक तिवारी एवं नारायणपुर के स्वामी श्रीकरानन्द का स्वागत पुष्पहार से प्रबन्ध समिति के अध्यक्ष श्री डी. डी. शुक्ला ने किया।

मुख्यमंत्री ने इस अवसर पर नारायणपुर आश्रम विद्यापीठ द्वारा इस वर्ष प्रकाशित पत्रिका 'तेदट' का विमोचन किया। उन्हें विवेकानन्द आश्रम की ओर से विवेकानन्द साहित्य का एक सेट तथा विवेक-ज्योति की प्रतियाँ भेंट की गयीं। श्री कनक तिवारी ने मुख्यमंत्री से उक्त साहित्य को अपने शयन कक्ष में रखकर उसका अध्ययन करने का निवेदन भी किया। इस समारोह में सासद चंदूलाल चंद्राकर, उपकुलपति रामकुमार पाण्डे सहित अनेक गणमान्य नागरिक उपस्थित थे।

११ सितम्बर को आयोजित भजन-सन्ध्या में श्री गुणवन्त व्यास, पं. दिगम्बर केलकर, डॉ. चन्द्रमोहन वर्मा तथा श्री दीपक व्यास ने स्वामीजी की स्मृति में संगीतमय भावभीनी श्रद्धाजलि अर्पित की, संगत किया तबले पर कन्हैयालाल भट्ट तथा श्री सुखेन्दु चटर्जी ने और वायलिन पर श्री एम. श्रीराम मूर्ति ने। शताधिक संख्या में समवेत होकर श्रोताओं ने इस कार्यक्रम का रसास्वादन किया।